आराधना केन्द्र कोबा

कर्म की गति न्यारी

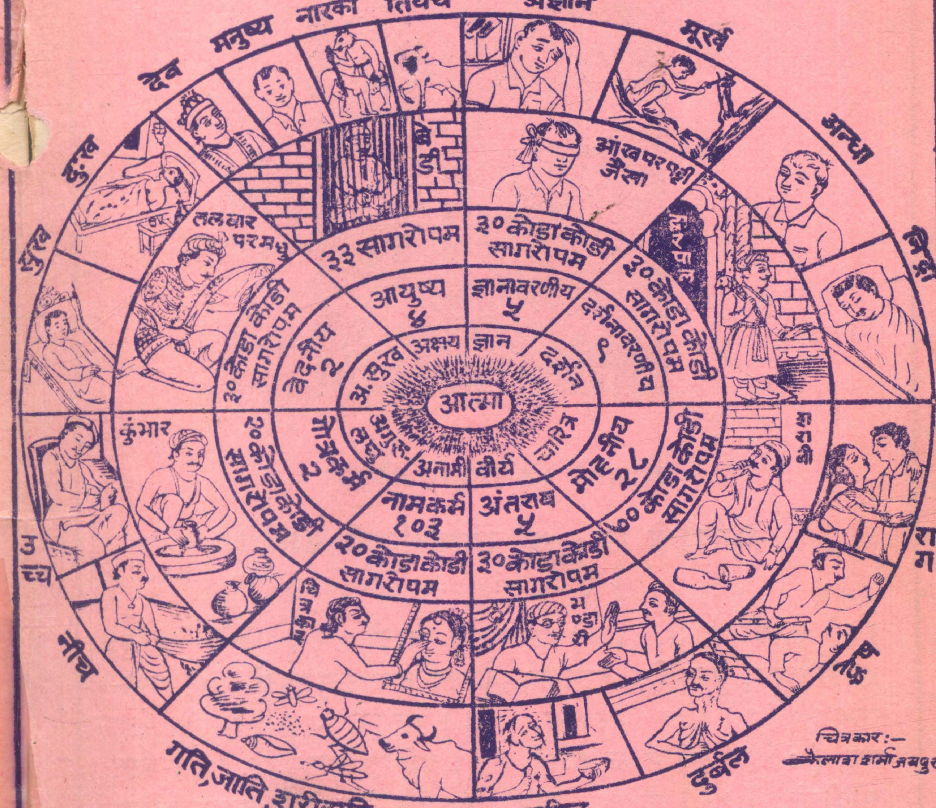

प्रवचनकार एवं लेखक:- प. मुनिराजश्री अरुणविजयजी महाराज

चातुर्मासिक रविवासरीय सचित्र व्याख्यानमाला

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ आत्मानंद सभा भवन, जयपुर

आवृती : १०००

प्रवचन-७

मूल्य : सदुपयोगार्थ १)

महान तपस्वीनी

श्रीमती रतनबहन चौधरी

धर्मपत्नी स्व० श्री मंगलचंदजी चौधरी

(१) वरषीतप दो, (२) उपध्यान तीनों, (३) श्री शेत्रुज्य, हस्तीनापुर, आबुजी, तलाजा, के नव नवाणु यात्राएँ (४) मासखमण, (५) सोल उपवास, (६) चतारी अठ दस दोष दोय तप, (७) एव वर्ष में छ अठाई, (८) इन्द्रियविजयतप, (९) चार चौबीसी, (१०) कषायजयतप, (११) ऐकसोबीसकल्याणकतप अगीयार अंगतप, नवकार तप, चौदपुर्वतप, चतुर्दशीतप पंच मेरुतप, वर्धमानतप, अक्षयनीधीतप, रोहिणीतप वीश स्थानक तप, मौन अेकादशीतप, क्षीरसमुद्रतप पीस्तालीश, आगम, चन्दनबाला, तेर कोढीयानोतप नव पद, ओलजी, पंचमहावृत, पोषदशमीतप, शेत्रुजय छठ, अठ्ठम यात्रा तप, सिद्धीतप, बावनजीनालयतप, छ मासी, चार मासी, त्रणमासी, दो मासी डोढ मासी एवम् श्रेणीक तप आदि महान तपश्श्चर्या करीने जीवन धन्य बनाया।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व

परम पूजनीय परमनाथ परमार्हन् परमगुरु परमकृपालु परमप्रभु परमविभु परमेश्वर परमेष्ठि परमात्मा श्री महावीर स्वामी के चरणारविन्दु में अनन्तानन्त नमस्कार पूर्वक..........

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, अणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवे, संसारे, परिवत्तए ॥१॥
नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउककम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव य समासओ ॥३।,

[उत्तरा. अ. ३३ श्लोक, १—३]

जैन आगम साहित्य में पवित्रतम माने गये एवं श्री महावीर प्रभु की अन्तिम देशना रूप श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में ८ कर्मों की मीमांसा की गई है। ऊपर दिये गए श्लोकों में प्रथम ही आठ कर्मों का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश किया गया है। **"अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणु-पुव्विं जहक्कमं"** इस प्रथम पंक्ति में ही कहा है कि ८ कर्मों को कहता हूँ, जैसा आणुपूर्वि—क्रम है ऐसा कहकर आठों कर्मों के नाम आगे के दो श्लोकों में गिनाए है। जिनमें क्रम इस प्रकार है—१. ज्ञानावरणीय कर्म, २. दर्शनावरणीय कर्म, ३. वेदनीय कर्म, ४. मोहनीय कर्म, ५. आयुष्य कर्म, ६. नाम कर्म, ७. गोत्र कर्म, ८. अंतराय कर्म। इस प्रकार क्रमशः आठों कर्म बताए गए है, तथा उनका क्रम इस तरह से रखा गया है। प्रायः अन्य भी छोटे-बड़े सभी शास्त्रों एवं ग्रन्थों में यही क्रम रखा गया है। उदाहरणार्थ श्री प्रशमरति प्रकरण ग्रन्थ, कर्मग्रंथ, नवतत्त्व प्रकरण एवं तत्त्वर्थाधिगम सूत्र में उमास्वाति महाराज ने सूत्र रचना में यही क्रम रखा है, तथा

इसी क्रम के आधार पर श्री वीरविजयजी महाराज ने चौसठ प्रकारी पूजा भी बनाई है। प्रशमरति प्रकरण में—

सज्ज्ञान-दर्शनावरण-वेद्य-मोहायुषां तथा नाम्नः।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ॥

इह नाण-दंसणावरण-वेअ-मोहाउ-नाम-गोआणि ।
विग्धं च पण-नव-दु-अट्ठवीस-चउ'तिसय-दु-पण-विहं ॥

कर्मग्रन्थ में, नवतत्त्व प्रकरण में ठीक ऐसा ही श्लोक पाया जाता है।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में—

आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयुष्य-नाम-गोत्रा-ऽऽन्तरायाः ॥८-५॥

इस तरह आपाततः देखने पर विविध ग्रन्थों में इसी क्रम से ८ कर्मों का उल्लेख किया गया है। क्रम का विशेष रहस्य तो ज्ञानी ही जाने। फिर भी उपन्यासक्रम इस प्रकार दर्शाया है—"**चेतना लक्षणो जीवः**" अर्थात् ज्ञानदर्शन रूप चेतनावान् जीव कहलाता है। अजीव से जीव को सर्वथा भिन्न करने वाला मुख्य भेदक गुण ज्ञान-दर्शन है। ये ही जीव के प्रधान-प्रथम गुण हैं। साकारोपयोग—विशेषोपयोग रूप ज्ञान तथा निराकारोपयोग-सामान्योपयोग रूप दर्शन है। ऐसे ज्ञान का आवरक ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञान से जाने हुए पदार्थ को देखने की 'दर्शन' शक्ति का जो आच्छादक है वह दर्शनावरणीय कर्म है। ज्ञान मुख्य होने से प्रथम क्रम पर ज्ञानावरणीय कर्म और दूसरे क्रम पर दर्शनावरणीय कर्म कहा है। ज्ञान और दर्शन के ये दोनों आवरणरूप ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय अर्थात् अज्ञान और अदर्शन अपना विपाक सुख-दुःख रूप दिखाते हैं। ज्ञानी सुख और अज्ञानी दुःख प्राप्त करता है। ऐसे सुख-दुःख का वेदन-संवेदन करने के लिए उनके बाद तीसरे क्रम पर वेदनीय कर्म को विपाक के हेतु रूप बताया है। ऐसी शाता और अशाता रूप सुख-दुःख के वेदना में जीव को प्रिय-अप्रिय अर्थात् राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग के कारण मोहदशा उत्पन्न होती है। न मिलने पर द्वेष में कषाय की वृत्तियां बनती है। अतः चौथे नम्बर पर राग-द्वेष करने-कराने वाला मोहनीय कर्म बताया है। ऐसे मोह में मोहित हुए जीव राग-द्वेषादि के कारण रागादिमान पदार्थों को प्राप्त करने के लिए आरम्भ-समारम्भ आदि अनेक पाप करके उस पाप की सजा को भोगने के लिए नरक-तिर्यंचादि गति का आयुष्य बांधता है। आयुष्य कर्म बांधे बिना अन्य गति में

जीव जा नहीं सकता । अतः मोहनीय कर्म के बाद पांचवें क्रम पर आयुष्य कर्म का नम्बर रखा है। एक जन्म से अन्य जन्म में जाने के लिए सबसे पहले आयुष्य की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे आयुष्य रूप नीयत काल की अवधि को लेकर जीव नरक-तिर्यंचादि चारों गति में जाता है। वहां उन गतियों में रहने के लिए उसे गति-जाति-इन्द्रियां, शरीर अंगोपांग, सूक्ष्मपना या स्थूलपना, यश-कीर्ति आदि प्रथम आवश्यकता रूप में अवश्य ही चाहिये। अतः आयु के बाद गति-जाति का कर्ता नामकर्म को छट्टें क्रम पर रखा गया है। यह चित्रकार की तरह सारा शरीर सजाकर देता है। अब नामकर्म के कारण जीव जिस गति-जाति में गया है, वहां रहने के घराना-गोत्र-कुल-वंशादि भी तो चाहिये। बिना उसके जीव कहां जन्म लेगा। तः गोत्र-वंश-खानदान घराना, कुल-जाति आदि व्यवस्था करने वाला गोत्रकर्म सातवें क्रम पर काम करता है। अन्त में ऐसे उच्च-नीच-गोत्र-घराने में गए हुए जीव को वहां पर धन-सम्पत्ति, वस्त्र, पात्र, भोजन-पानी, स्त्री-पुरुष पुत्र-पौत्रादि परिवार या दान-लाभादि शक्तियां और भोग्य-उपभोग्य साधन सामग्रियां तथा शारीरिक शक्ति-बल आदि चाहिए। वह कर्मानुसार कम ज्यादा मिलेंगे या नहीं मिलेंगे यह व्यवस्था अन्तराय कर्म के आधार पर होती है। अतः अन्तिम आठवें क्रम पर अन्तराय कर्म आता है। यह अन्तराय कर्म दान-लाभादि की व्यवस्था का नियामक है। अतः यह इस प्रकार काम करता है। इस तरह आठों कर्मों का क्रम विचारा गया है। ये आठों ही मिलकर जीव के लिए सारा संसार खड़ा कर देते हैं। संसार की व्यवस्था में और कुछ शेष नहीं रहता है। अतः आठ कर्म के बाद किसी नवें कर्म की आवश्यकता नही पड़ती है। अतः कर्म आठ ही हैं तथा आत्मा के प्रधान मुख्य गुण भी आठ होने से उनके आवरक कर्म की संख्या भी आठ ही है। इन आठ कर्मों में घाती और अघाती नाम के दो विभाग किये जाते हैं।

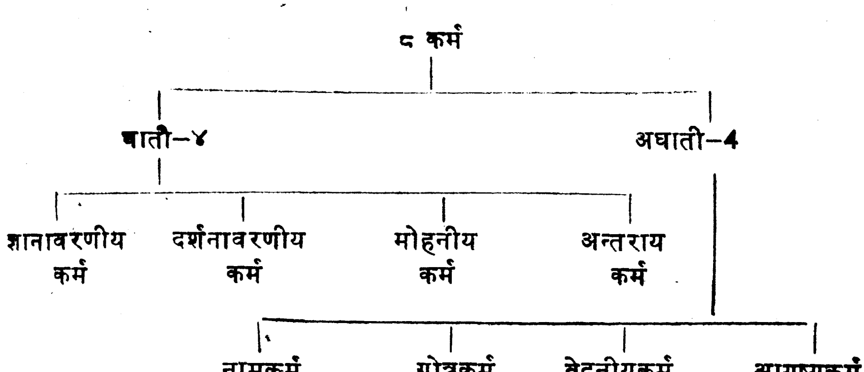

घाती के विभाग में ४ कर्म और अघाती के विभाग में अन्य चार कर्म आते हैं जिनका नामोल्लेख उपरोक्त तालिका में किया गया है। घाती-अघाती के भेद समझाते हुए उपरोक्त क्रम बदलकर चार कर्मों को एक तरफ घाती कर्म के विभाग में और शेष चार कर्मों को दूसरी तरफ अघाती कर्म के विभाग में रखा गया है। अतः सामान्यरूप से ८ कर्मों का नामनिर्देश उत्तराध्ययन सूत्र आदि ग्रन्थों में बताए गए क्रमानुसार किया गया है, तथा घाती-अघाती के दृष्टिकोण से ८ कर्मों का क्रम इस प्रकार रखा है—१. ज्ञानावरणीय कर्म, २. दर्शनावरणीय कर्म, ३. मोहनीय कर्म, ४. अन्तराय कर्म, ५. नामकर्म, ६. गोत्रकर्म, ७. वेदनीय कर्म, ८. आयुष्य कम।

"नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा"

आदि श्लोकों से बताये गये आत्मा के भिन्न-भिन्न गुणों के क्रम कुछ भिन्न प्रकार से ही मिलेंगे। आत्मा के गुण आठ हैं। अतः उन आठ गुणों के आच्छादक-आवरक कर्म भी आठ हैं।

आत्मा के ८ गुण		आवरक ८ कर्म
१. अनन्तज्ञानगुण	—	ज्ञानावरणीय कर्म
२. अनन्तदर्शनगुण	—	दर्शनावरणीय कर्म
३. अनन्तचारित्र—यथाख्यातचारित्रगुण	—	मोहनीय कर्म
४. अनन्तवीर्य (शक्ति) गुण	—	अन्तराय कर्म
५. अनामी-अरूपीपना गुण	—	नाम कर्म
६. अगुरु—लघुपना गुण	—	गोत्र कर्म
७. अनन्त-अव्याबाधसुख गुण	—	वेदनीय कर्म
८. अक्षयस्थिति गुण	—	आयुष्य कर्म

આત્માના આઠ ગુણો અને તેના આવરક
—: આઠ કર્મો :—

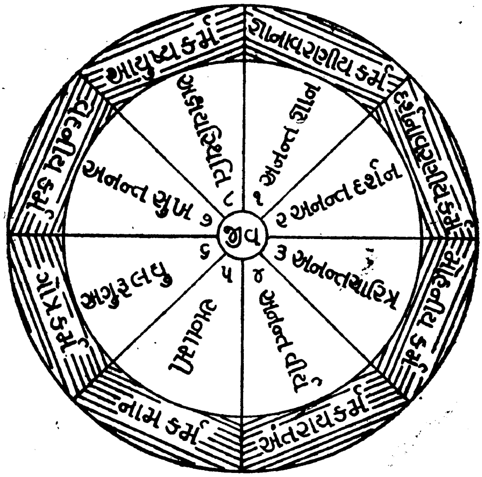

इस तरह ८ कर्मों की क्रम विचारणा दोनों तरीकों से की गई है। प्रस्तुत "कर्म की गति न्यारी" नामक पुस्तिका में घाती-अघाती के दृष्टिकोण को अपनाया है। अतः प्रमुख रूप से कर्म ग्रन्थादि से प्राप्त क्रमानुसार तीसरे क्रम पर वेदनीय कर्म का क्रम प्राप्त था, तथापि हमने यहां पर मोहनीय कर्म का विषय लिया है।

अनन्त चारित्र-यथाख्यात स्वरूप–

पूर्व पुस्तिका में आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुणों का विवेचन किया गया है। अनन्त ज्ञान-दर्शन गुण के बाद आत्मा का अत्यन्त महत्वपूर्ण तीसरा गुण हैं— अनन्तचारित्र। अनन्तचारित्र गुण को ही स्वभाव रमणता, स्वगुण रमणता, यथाख्यात चारित्र, आदि भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता हैं। वस्तु का स्व-स्वरूप में ही रहना अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यदि स्वरूप ही बदल जाय तो वस्तु विकृत हो जाती है। अनादि अनन्त काल तक आत्म द्रव्य का अस्तित्त्व सर्वथा नष्ट न होने देने का काम यह गुण करता है। अतः इस गुण ने आत्मा का स्वस्वरूप बनाए रखा है। आत्मा स्व-स्वरूप से सर्वथा राग-द्वेषादिभाव रहित है। सर्वथा विषय-कषाय वृत्ति रहित है। अर्थात् वीतराग-वीतद्वेष तथा निष्कषाय एवं निर्विषय स्वरूप

आत्मा मूलभूत शुद्ध स्वरूप है। आत्मा के स्व-स्वरूप की पहचान इस अनन्त चारित्र गुण से होती है। यथाख्यात का अर्थ है कि—यथा = अर्थात् जैसा, ख्यात = अर्थात् कहा गया हैं। जैसा सर्वज्ञ-केवलज्ञानी भगवान ने आत्मा का शुद्ध स्वरूप कहा है, उसी शुद्ध स्वरूप में रहना यथाख्यात चारित्रगुण कहलाता है। जैसा मोक्ष में आत्मा का सर्व कर्मरहित शुद्ध स्वरूप होता है, वैसा सभी आत्माओं का मूलभूत स्वरूप है, परन्तु संसारी जीव राग-द्वेषादि की प्रवृत्ति में फंसकर अपनी स्वभाव रमणता एवं स्वगुण रमणता को भूल जाता है, और अपने शुद्ध स्वरूप को विकृत कर देता है। इन राग, द्वेष विषय-कषायादि भावों से आत्मा कर्म के भार से भारी होती जाती है आत्मा के इस अनन्तचारित्रगुण को ढकने वाले मोहनीय कर्म के कारण आत्मा स्व-स्वभाव भूल जाती है, और विभावदशा में गिर जाती है। अपने ज्ञानादिक गुणों को भूलकर आत्मा अज्ञानादि में प्रवृत्ति करने लगती है। निजानन्द-सच्चिदानन्द स्वरूप को भूलकर आत्मा पुद्‌गलानन्दी बनती है। क्षमा, समता, नम्रता आदि गुणों को भूलकर आत्मा क्रोधादि कषाय वाली बन जाती है। इस तरह यथाख्यात चारित्र स्वरूप या स्वगुण रमणता स्वस्वरूप रमणता स्व-स्वस्वभाव रमणता आदि जो आत्मा के मूलभूत गुण थे, वे मोहनीय कर्म से ग्रस्त होकर-दबकर विकृत हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म—

संसारी जीव की राग-द्वेष, विषय-कषाय, अदि की प्रवृत्ति से उत्पन्न यह मोहनीय कर्म आत्मा को स्वेत्तर-आत्मेत्तर अर्थात् आत्मा से भिन्न अतिरिक्त जो पर पदार्थ हैं, उनमें मोहित करे वह मोहनीय कर्म कहलाता है। संस्कृत के "मुह" धातु से मोह शब्द बना है। "मुह्यति जन्तवः अनेन इति मोहः।" जिससे जीव मोहित होता है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जबकि आत्मा का मूलभूत स्वभाव पर पदार्थ में मोहित होने का नहीं है। स्वभाव रमणता और स्वगुण रमणता के मूलभूत गुण से आत्मा स्वस्वरूप में, स्वगुणों में ही मस्त-लीन रहनी चाहिए। निज में ही आनन्द मानना निजानन्द स्वरूप है, परन्तु यह सब मोहनीय कर्म के प्रबल आघात से छूट जाता है और आत्मा पर पुद्‌गल पदार्थों में आनन्द मानने लग जाती है। इस तरह निजानंदी आत्मा मोहनीय कर्म के कारण पुद्‌गलानन्दी बन जाती है। कदम-कदम पर मोह ग्रस्त आत्मा अपने आपको भूलकर अन्य पदार्थों में ही मोहित होती जाती

है। अन्य पदार्थों का ही उसे आकर्षण (राग) लगा रहता है। उनके संयोग वियोग में सुखी-दुःखी रहती है, उन्हीं के निमित्त राग-द्वेष करती है, और विषय-कषाय खड़े करती है। इस प्रकार मोहनीय कर्म में दबी हुई आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को विकृत कर देती है।

मोहनीय कर्म की उपमा—

"मज्जं व मोहणीयं"—कर्मग्रन्थकार पूज्य देवेन्द्रसूरि महाराज ने कर्मग्रन्थ में "मज्जं व मोहणीयं" शब्द का प्रयोग करके मोहनीय कर्म को मदिरा तुल्य बताया है, मदिरा की उपमा दी है। विकृति एवं विपरीतता की सभ्यता के आधार पर मोहनीय कर्म और मदिरा में सादृश्यता दिखाते हुए तुलना की है। जैसे मदिरा-शराब सब काम विपरीत कराती है, वैसे ही मोहनीय कर्म भी आत्मा को सब कुछ विपरीत ही कराते हुए विभाव दशा में रखता हैं। किसी ने शराब पी होतो, वह व्यक्ति अपने

परिवार में सबसे विपरीत व्यवहार करता है, शराब के कारण उसका ज्ञान कुण्ठित होकर अज्ञान दशा में परिणत होता है और वह मोहित होकर पत्नी को मां और मां को पत्नी समझने लगता है, और उनके साथ वैसा व्यवहार करने लगता है। यह कितना विपरीत-गलत व्यवहार है। मां के साथ पत्नी जैसा व्यवहार करें और पत्नी के साथ मां के जैसा व्यवहार करें, यह कितना उल्टा व्यवहार होगा ?

ठीक वैसे ही मोहनीय कर्मग्रस्त आत्मा, जो पुद्गल पदार्थ अपने नहीं है, उन्हें अपना मानने लगती है, और जो अपने ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं उन्हें भूलकर अन्य पदार्थों में अपनी ममत्व बुद्धि रखती है। अपना है उसे अपना न मानकर, पराये में ममत्व बुद्धि रखकर उसे अपना मानने की वृत्ति मोहनीय कर्म की हैं। इस तरह जो पत्नी नहीं उस "मां" को पत्नी मानने की विपरीत प्रवृत्ति वाले शराबी के जैसा ही मोहनीय कर्म है। अतः महापुरुषों ने यह उपमा उचित ही दी है।

मोहदशा की प्रवृत्ति—

मोहनीय कर्म वाली संसारी आत्मा संसार में हमेशा ही मोह-ममत्व प्रधान व्यवहार करती है। उसके सारे व्यवहार में 'ममत्व' की 'मेरे पने की' गंध आती

है। यहां तक कि वह हर घड़ी "मैं और मेरा"—"मैं और मेरा" करता रहता है। मानों "मैं और मेरा" उसका जप मन्त्र ही बन गया हो। इस बात को 'ज्ञानसार अष्टक' में उपाध्यायजी महाराज इस तरह कहते हैं कि "**अहं ममेति" मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध कृत्**। "मैं और मेरा" यह मोहनीय कर्म का मूल मन्त्र जगत के सभी जीवों को मोह में अन्धा बता देता है। संसार में जीव जितना भगवान के मन्त्र का जप नहीं करता, शायद उससे हजार गुना जप वह मोहनीय कर्म के इस मन्त्र का करता होगा। संसार में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि प्रत्येक व्यक्ति कदम-कदम पर "मैं और मेरा" की बात करता है, व्यवहार करता है। इतना ज्यादा करता है कि मानो वह मोहनीय कर्म का मन्त्र ही जप रहा हो। चाहे वह जिस किसी भाषा को बोलने वाला हो, किसी भी देश या धर्म विशेष का क्यों न हो, पर वह अपनी-अपनी भाषा में "मैं और मेरेपने" का व्यवहार करता रहता है—

हिन्दी में	—	मैं और मेरा।
गुजराती में	—	हुं अने मारू।
मराठी में	—	मी आणी माझा।
संस्कृत में	—	अहम् माम।
अंग्रेजी में	—	I AND MY.

भिन्न-भिन्न देशों की भाषा भले ही भिन्न हो, शब्द रचना भले ही भिन्न हो, परन्तु मोहनीय का ममत्व सर्वत्र एक सा ही है। सभी के शब्दों में मोह-ममत्व की गंध एक सी ही रहती है। व्यक्ति अपने दैनिक व्यवहार में "मैं और मेरा" शब्द का प्रयोग सैकडों बार करता है। जैसे मैं खाऊंगा, मैं पीऊंगा, मैं बोलूंगा, मैं आऊंगा, मैं जाऊगा, मैं सोऊंगा, मैं बैठूंगा, मैं करूंगा, आदि, तथा मैंने ऐसा किया है, मैंने वैसा किया किया है, यह मैंने बनाया है, यह मैंने जीता है, इसे मैंने जीताया है, इसे मैंने बनाया है, इसे मैंने लगाया है, आदि व्यवहार में बोलते हुए मैं मैं का व्यवहार इतना ज्यादा करता है कि—मानों बकरी की तरह मैं····मैं····मैं····मैं करता रहता है। उसी तरह बार-बार मेरा घर—मेरा मकान, मेरा पुत्र—मेरा पौत्र, मेरी पत्नी—मेरी गाड़ी, मेरा पैसा—मेरा कपड़ा, मेरी दुकान, मेरी सम्पत्ति, मेरी सत्ता, मेरी गद्दी, मेरा शरीर, मेरा पिता, इस तरह प्रत्येक वस्तु में वह बार-बार मेरेपन का ममत्व दिखाता हुआ सैकड़ों बार बोलता रहता है। अतः सारा संसार मनुष्य ने मोहनीय कर्म का

ही बना दिया है। जिसमें सतत मोह-ममत्व की गंध आती रहती है "मैं और मेरा" यही स्पष्ट मोह दशा है।

हमारा यह व्यवहार सही है या गलत है ? आत्मा के अनन्त चारित्र स्वगुण, स्वभाव स्वरूप रमणता गुण के दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह "मैं और मेरेपने" की प्रवृत्ति बिल्कुल गलत है। यह मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति है। जीव सर्वथा विभाव-विपरीत प्रवृत्ति में मोहित हुआ है। मोहनीय कर्म से ग्रस्त होकर जीव जो मेरा है उसे मेरा नहीं मान रहा है, और जो मेरा नहीं है उसे मेरा मान रहा है। यह कितना गलत है ? महापुरुषों ने हमें सावधान करते हुए यह कहा है—

आप स्वभाव मां रे, अवधु सदा मगन में रहना।
जगत जीव है करमाधिना, अचरिज कछुअ न लीना॥
तुं नहि केरा, कोई नहीं तेरा, क्या करे मेरा-मेरा।
तेरा है सो तेरी पास अवर सब अनेरा....आप॥२॥

हे जीव ! अपने मूलभूत स्व-स्वभाव में तूँ लीन रहना। अर्थात् चारित्र गुण की स्वभाव रमणता में मस्त रहना। क्षमा, समता आदि अपने गुणों में मस्त रहना। संसार को देखकर निरर्थक कर्म मत बांधना, क्योंकि संसार में सभी जीव कर्माधीन हैं। कर्माधीन जीवों की राग-द्वेष की प्रवृत्तियां देखकर कोई आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है। अतः अपने आप को संसार से अलिप्त रखकर स्वगुण में लीन रहना। संसार में ज्यादा मोहदशा भी मत रखना क्योंकि इस संसार में कोई किसी का नहीं है, न तू किसी का है और न ही तेरा कोई है। निरर्थक मेरा-मेरा करके दुःखी मत होना। संसार मात्र स्वार्थ का सगा है। इसलिए हे जीव ! समझ ले कि जो कुछ तेरा है वह तेरे पास ही है, और जो तेरे पास नहीं है अर्थात बाहरी है वह तेरा नहीं है। अनन्त ज्ञान-दर्शन, चारित्रादि जो तेरे मूलभूत गुण हैं वे तेरे पास ही हैं, अर्थात् तेरे में ही हैं। उन्हें बाहर ढूढने जाने की जरूरत नहीं है। कस्तूरी नाभि में होते हुए भी हिरन बाहरी दुनियां में दौड़ता रहता है। यह उसकी अज्ञानता है। अंत में वह बहुत दुःखी होता है। वैसे ही ज्ञान-दर्शन-चरित्र आदि गुणों का खजाना आत्मा में ही होते हुए भी जीव मोहनीय कर्म के अधीन होकर अज्ञानतावश बाह्य विभावदशा में जाता है। बाह्य पुद्गल पदार्थों में आसक्त होकर पुद्गलानन्दी बनता है। परन्तु नाशवन्त उन पुद्गल पदार्थों का जब नाश हो जाता है, तब उनके कारण

जीव दुःखी होता है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि जीव का दुःख भी उसकी मोहदशा के कारण होता है। इसलिए जीव को स्वगुण रमणता के अनन्त चारित्र गुण में रहना चाहिये। परन्तु संसार की राग-द्वेष की प्रवृत्तियों के कारण जीव उसमें ऐसा फंस जाता है जैसे रेशम का कीड़ा अपने जाल में फँसता है, जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही मुह से थूंक की लार निकालकर उसके रेशे बनाता है और अन्त में स्वयं उसी में उलझ जाता है। मकड़ी भी ऐसा ही करती है। इसी तरह जीव इस संसार में मोह-ममत्व की रागद्वेष वाली प्रवृत्ति करता है तथा उससे मोहनीय कर्म उपार्जन करता है, और अन्त में स्वयं अपने बिछाए हुए मोह जाल में फंस जाता है, जैसे खाने गई मछली जाल में फँसती हो। जीव स्वयं राग-द्वेषासक्त होकर तथाप्रकार की मोह ममत्व की प्रवृत्ति करता हुआ मोहनीय कर्म बांधता है और पुनः उस मोहनीय कर्म के उदय में आने पर फिर वैसी मोह की प्रवृत्ति करता है। इसी तरह राग-द्वेष से मोह, और मोह से पुनः राग-द्वेष, फिर मोह और राग-द्वेष की प्रवृति करता हुआ संसार में काल बिताता रहता है।

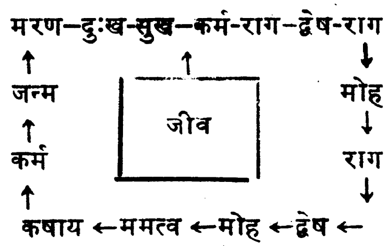

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥
[उत्तरा. अ. ३२/७]

—राग-द्वेष ही कर्म के बीज हैं, और कर्मो को ही मोह से उत्पन्न हुआ कहते हैं। कर्म ही जन्म-मरण का मूलभूत कारण है, और जन्म मरण को ही दुःख कहा गया है। इस तरह मोहनीय कर्म के मूल बीज जो राग-द्वेष है, उसकी प्रवृत्ति करने से जीव मोहनीय कर्म उपार्जन करता है। कर्मशास्त्र एवं तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में मोहनीय कर्म बाँधने के आश्रव मार्ग एवं बंध हेतु निम्न प्रकार से बताए गए हैं।

मोहनीय कर्मबंध के आश्रव कारण—

समस्त संसार में कार्य-कारणभाव का एक विशेष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है।

"कार्य नियतपूर्ववृत्तित्वं कारणं" कारण के इस लक्षण के आधार पर हमेशा कारण कार्य के ठीक पूर्व में रहता है। जैसे घड़े के पूर्व से मिट्टी कारण है, और धुए के पहले अग्नि कारण होती है।

जिस तरह बिना कारण के कोई कार्य नही होता, उसी तरह संसार में रागी-द्वेषी आस्तिक-नास्तिक, धर्मी-अधर्मी, सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी, विषयी-कषायी आदि गुण-दोषवान् जीवों के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिए। कर्म युक्त जीव सकर्मी कहलाता है। अतः कर्म के पीछे कारण होना अनिवार्य है। कर्म का कारण महापुरुषों ने पाप बताया है। मिट्टी और अग्नि की तरह पाप का व्यवहार अर्थात् अशुभ क्रिया पहले होती है, और उससे कर्म बंधता है। पाप प्रवृत्ति कारण है और कर्मबंध कार्य है। भिन्न-भिन्न कर्मों के पीछे जीवों की भिन्न-भिन्न पाप प्रवृतियां कारण बनती हैं। प्रस्तुत विषय में मोहनीय कर्मबंध के विशेष पाप-कारण देखने हैं। मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद–विभाग हैं – १. दर्शनमोहनीय कर्म और २. चारित्र मोहनीय। यहां प्रथम दर्शन मोहनीय कर्म का अधिकार लिया गया है। अतः सर्वप्रथम दर्शनमोहनीय कर्मबंध के कारण पर विचार किया जा रहा है। कम-ग्रन्थकार एवं तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के कर्ता आदि ने भिन्न-भिन्न पाप-प्रवृत्तियों का निर्देश करते हुए कहा है कि—

उमग्ग-देसणा–मग्ग-नासणा-देव-दव्व हरणेहिं ।
दंसण-मोहं जिण-मुणि-चेइअ-संघा-ऽऽइ-पडिणीओ ॥
[कर्मग्रन्थ प्रथम ५६]

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवाऽवर्णवादो दर्शनमोहनस्य ॥६-१४॥

—उन्मार्ग-गलतमार्ग का उपदेश करना, सच्चे मार्ग का लोप करना, या गलत मार्ग को सही कहना, और सही मार्ग को गलत बताना, देव द्रव्य का अपहरण करना, जिनेश्वर परमात्मा, साधु मुनिराज, जिन-मन्दिर-मूर्ति, तथा साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप सकल चतुर्विध संघ का प्रत्यनिक अर्थात् विरुद्धगामी या विरोधी

होना आदि प्रवृत्ति से दर्शनमोहनीय कर्म उपार्जन किया जाता है। केवलज्ञानी-सर्वज्ञ भगवान सूत्र-शास्त्र, श्री संघ, धर्म, देवों का अवर्णवाद कहना अर्थात् उनके विषय में विपरीत कहने मे या उनकी निंदा टीका करने से दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है। ऐसा तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के कर्ता उमास्वाती महाराज कहते हैं।

उन्मार्ग प्ररूपण करना यह एक महापाप है। आनन्दघनजी महाराज ने १४वें अनंतनाथस्वामी के स्तवन में कहा है कि—

पाप नहि कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोइ जगसूत्र सरीखो।

सूत्र अनुसार जे भविक किरीया करे, तेहनु शुद्ध चरित्र परीखो॥

अर्थात् उत्सूत्र प्ररूपण जैसा कोई पाप नहीं है और सूत्र-शास्त्र-सिद्धान्त की प्ररूपणा करने जैसा जगत में कोई धर्म नहीं है। उसी तरह शास्त्र-सिद्धान्त के अनुरूप जो क्रिया करता है उसीका शुद्ध चारित्र कहा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्मार्ग या उत्सूत्र को प्ररूपणा करने के कारण जीव बड़ा भारी पाप उपार्जन करता है। स्वयं सिद्धान्त के रहस्य को समझ नहीं पाता है और दूसरों को भी गलत समझाता हैं। भ्रम का जाल खड़ा करके धर्म के ओठे के नीचे अधर्म का प्रचार करता है। अधर्म या पापाचार को ही धर्म के नाम पर फैलाता है। अपने बुद्धि-चातुर्य से अधर्म को धर्म रूप में समझाकर या तत्त्वो का मनमाना अर्थ करके या सिद्धान्तों का अपने ढंग से स्वार्थपूर्ण अर्थ करके लोगों को गलत रास्ते ले जाना उल्टी दिशा बताना, यह उन्मार्ग की प्ररूपणा करने का महापाप है। इससे जीव दर्शनमोहनीय कर्म बांधता है। उसी तरह देव-गुरू-धर्म के विपरीत बोलना, या उनका विरोधी (प्रत्यनिक) बनकर वैमनस्य वृत्ति धारण करते हुए विपरीत व्यवहार करना, यह दर्शनमोहनीय कर्म उपार्जन करने का कारण है।

सर्वज्ञ-केवलज्ञानी भगवान जो अनन्तज्ञानी हैं, उनके विषय में भी गलत बोलना, उनकी हंसी उडाना, तथा सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रणीत तथा गणधर रचित आगम श्रुत-शास्त्रों की आशातना करना, उनके विषय में "हम्बक" है ऐसा कहना, यह भी दर्शनमोहनीय कर्म बांधने का पाप व्यवहार है, साधु-साध्वी—श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध श्री संघ के विषय में अवर्णवाद अर्थात् निंदा-टीका करना, उनका अपमान

करना, खिल्लयां उड़ाना, आदि प्रवृत्ति दर्शनमोहनीय कर्म बंधाती है। अहिंसा-संयम-तप प्रधान धर्म के विषय में भ्रांतियाँ करना, धर्म न मानना, किसी की धर्म श्रद्धा को डिगाना, धर्म के फल के विषय में सन्देह करना, एवं देवताओं के विषय में भी अश्रद्धा जन्य प्रलाप करने से दर्शनमोहनीय कर्म उपार्जित करना, यह महा पाप है—कर्म है।

जलपूजा जुगते करीए, मोहनी बंधठाण हरीए;
विनतडी प्रभु न करिए रे, चेतन चतुर थइ चूक्यो।
निज गुण मोहवशे मूक्यो ॥१॥

जीव हण्या त्रस जल भेटी, देइ फांसो मोगर कूटी;
मुख दाबी बाधर वेंटी रे ॥२॥

क्लेश शम्या उदिरणीयो, अरिहा अवगुण मुख भणीआ;
बहु प्रतिपालक ने हणीया ॥३॥

धर्मी धर्म थी चूकवीआ, सूरि पाठक अवगुण लवीआ;
श्रुतदायक गुरू हेलवीआ ॥४॥

निमित्त वशीकरणे भरीओ, तपसी नाम वृथा धरीओ:
पंडितविनय नवि करीओ ॥५॥

पूज्य वीरविजयजी महाराज उपरोक्त पूजा की ढाल में बताते हैं कि सरोवरों में जाल डालकर कई त्रस जीवों को फँसाना, उन्हें मारना, विकलेन्द्रिय तथा त्रसादि जीवों को फाँसी लगाकर मारना, मूंह दबाकर मारना, कोड़े, हन्टर आदि से मारना, इस तरह मारने की प्रवृत्ति से जीव मोहनीय कर्म बांधता है। अरिहंतादि पंचपरमेष्ठियों के विरुद्ध बोलना, उनका अनादर करना, उनमें अश्रद्धा रखना, तथा धर्मीजनों को धर्म से च्युत करना, धर्मश्रद्धा पर कुठाराघात करना, ज्ञान-ज्ञानी की अवहेलना करना, गुरु का अपमान-अनादर करना, अनेक प्रकार के सच्चे-झूठे कर्म, असत्य सेवन करना, निमित्त वशीकरण करना, न होते हुए भी दिखावा करना, अविनय-अनादर करना आदि अनेक पाप प्रवृत्तियां दर्शनमोहनीय कर्म बंधाती हैं। इस तरह जीव संसार में अनेक प्रकार की पाप प्रवृत्तियां करके दर्शनमोहनीय कर्म से भारी होता है। ऐसे अनेक बंध-हेतु आश्रव मार्ग बताए गए हैं।

कर्मशास्त्र का नियम है कि जीव "जैसा करता है वैसा भरता है।" अर्थात् जैसे पाप करता है वैसे ही कर्म समय आने पर उदय में आते हैं। बांधे हुए कर्म उदय में आने पर जीव की वैसी स्थिति निर्माण होती है। उपरोक्त पाप प्रवृत्तियों को करने वाला जीव जो दर्शनमोहनीय कर्म उपार्जन करता है, वह मोहनीय कर्म का मात्र एक भेद है। परन्तु मोहनीय कर्म दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय के भेद से मुख्यतः दो प्रकार का बताकर उसके अवान्तर २८ भेद बताए गए हैं।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥
सम्मत्ते चेव मिच्छत्तं, सम्ममिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥
चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तं वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव च ॥१०॥
सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं नोकसायजं ॥११॥

[उत्तरा अ. ३३ श्लो. ८/११]

श्री उत्तराध्यन सूत्र आगम में बताए गए मोहनीय कर्म के भेद उपरोक्त श्लोक में बताए गए हैं।

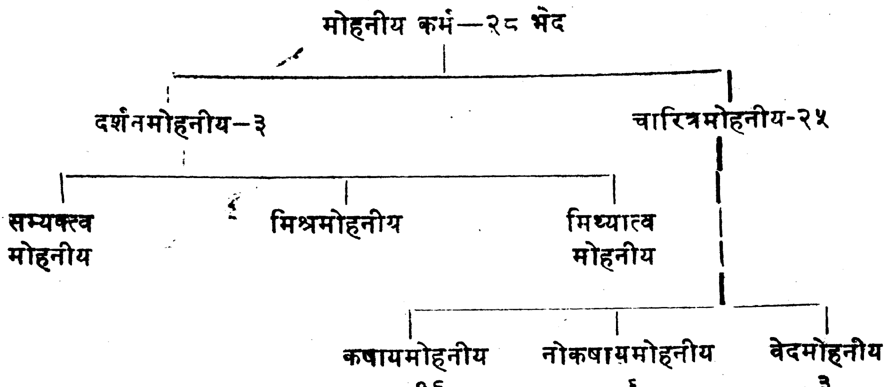

३ + १६ + ६ + ३ = २८ इस तरह संक्षेप में उपरोक्त तालिका में मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियां बताई गई हैं। मोहनीय कर्म के अवान्तर भेद २८ होते हैं।

दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म—

मोहनीय कर्म

दर्शनमोहनीय — चरित्रमोहनीय

मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसण चरण मोहा।

कर्मग्रन्थकार महर्षि ने मदिरा जैसे इस मोहनीय कर्म को १. दर्शनमोहनीय और २. चारित्रमोहनीय दो प्रकार का बताया है। इन दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र कार्य क्षेत्र है। अतः मोहनीय कर्म के ये दो स्वतन्त्र स्तम्भ माने जाते है। मूलतः मोहनीय कर्म का काम आत्मा को मोहित करने का है। उसमें भी दर्शन-मोहनीय आत्मा को अज्ञान में एवं अश्रद्धा में मोहित करता है, जबकि दूसरा चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा को विषय-कषाय की प्रवृत्ति में आसक्त करता है। ये दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों ही कर्म आत्मा के ऊपर बड़ा भारी आक्रमण करते हुए आत्मा की आचार-विचार दोनों की प्रवृत्तियों को पंगु बना देते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा की विचार शक्ति पर आक्रमण करके उसे विपरीतधारा वाली अश्रद्धा जनक मिथ्यादृष्टिवाली विचारधारा बना देता है। परिणाम स्वरूप आत्मा अश्रद्धालु बनती है। चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा की आचारसंहिता को तोड़कर उसे शुद्ध चारित्रगुण में रमण नहीं करने देता हैं। अर्थात् अपने मूलभूत निष्कशाय-निर्विषय भावों में एवं समतादि गुण में प्रवृत्ति न करने देते हुये उसे विषय-कषाय की प्रवृत्ति में बाध्य करता है। इस तरह दोनों ही कर्म और आत्मा की आचार-विचार की शक्ति को विकृत एवं विपरीत करते हैं। इनमें जिस कर्म का क्षयोपशम या बंध का प्रमाण जितना कम-ज्यादा रहेगा उतने ही आत्मा के गुण-दोष भी कम-ज्यादा रहेंगे। उदाहरणार्थ—एक तराजू का दृष्टांत लिया जाय। तराज़ू के पलड़े में यदि एक तरफ वजन कम रहता है, तो दूसरी तरफ वस्तु का प्रमाण बढ़ता है, और यदि वस्तु का प्रमाण कम रहता है तो वजन का प्रमाण बढ़ता है, और जब दोनों ही समकक्ष होते हैं, तब वस्तु और वजन समान मान लिए जाते हैं। वैसी ही दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों कर्म एक तराजू के दो पलड़ों की तरह काम

करते हैं, अर्थात् जब दर्शनमोहनीय कर्म का पलड़ा झुका हुआ रहेगा तब चरित्रमोहनीय कर्म का पलड़ा चढ़ा हुआ रहता है, और यदि चारित्रमोहनीय का पलड़ा झुका हुआ रहेगा तब दर्शनमोहनीय का पलड़ा चढ़ा हुआ रहता है। जिस जीव में दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का प्रमाण ज्यादा रहेगा उसमें श्रद्धा का प्रमाण कम रहेगा, या नहीं भी रहेगा, या मिथ्यात्व का प्रमाण ज्यादा रहेगा। उसी तरह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय का प्रमाण जिस जीव में ज्यादा रहेगा उसमें विषय-कषाय-विकार की मात्रा भी ज्यादा रहेगी। इस तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व तथा विषय-कषाय आदि के प्रमाण का आधार दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म पर आधारित रहता है। जिस जीव का जितना क्षयोपशम कम-ज्यादा रहेगा उस जीव में उतने गुण-दोष भी कम ज्यादा रहते हैं। अतः यह निश्चित होता है कि यदि हमें मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व प्राप्त करना हो तो दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम या क्षय करना पड़ेगा। तब आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकेगी। उसी तरह यदि हमें विषय-कषाय नष्ट करके निर्विय एवं निष्कषाय भाव-समतादि आत्मगुण प्राप्त करने हों तो चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षयोपशम या क्षय करना चाहिए। इस तरह दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा का नास्तिक-अश्रद्धालु एवं मिथ्यात्वी बनाता है। आत्मा के आस्तिक भाव सम्यग् श्रद्धा आदि गुणों का नाश होता है। हमारी आत्मा का यह बहुत ज्यादा नुकसान कारक है, क्योंकि सम्यग् श्रद्धा एवं आस्तिकता आदि आत्मा के मूलभूत गुण हैं, और कर्म के उदय से यदि गुण दब जायेंगे तो दोष उभर आएंगे। ठीक वैसे ही काम-क्रोधादि विषय-कषायादि आत्मा के गुण नही हैं परन्तु कर्मजन्य विकृति मात्र हैं। अनन्त चारित्रवान् आत्मा मूलतः राग-द्वेषादि कषाय रहित क्षमा-समता वाली है, और विषय-विकार रहित शुद्ध ब्रह्मचारी है, परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के कारण आत्मा वैसी विषय-कषायी अर्थात् काम-क्रोध-मान-माया-लोभ राग-द्वेष वाली बनती है! इस तरह आत्मा के मूलभूत गुणों की प्रकृति और कर्मजन्य विकृति की यह मीमांसा की है।

दर्शनावरणीय और दर्शनमोहनीय कर्म में अन्तर—

गत प्रवचन में दर्शनावरणीय कर्म के विषय में विचार किया था। अब यहां प्रस्तुत अधिकार में दर्शनमोहनीय कर्म का विचार किया जा रहा है। यद्यपि दोनों नामों में 'दर्शन' शब्द की सादृश्यता जरूर है, फिर भी दोनों में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द

का अर्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न है। दर्शनावरणीय कर्म में 'दर्शन' शब्द का अर्थ सामान्य रूप 'देखना' होते हुए भी पदार्थ का निर्विषेश-निर्विकल्प-निराकार सामान्य बोध प्राप्त कराने का था। विशेष ज्ञान के पहले होने वाला सामान्य ब बोध रूप दर्शन होता था। यह दर्शन आत्मा का दूसरा अनन्तदर्शन नामक गुण था। अनन्त दर्शन गुण आत्मा का एक स्वतन्त्र गुण हैं। उस पर आये हुए आवरण को दर्शनावरणीय कर्म कहा है। यह दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के मात्र दर्शन गुण को आच्छादित करता है।

दर्शनमोहनीय कर्म एक स्वतन्त्र कर्म है। आत्मा के तीसरे अनन्त चारित्रगुण-यथाख्यातचारित्रगुण पर आये हुए आवरण का नाम है, मोहनीय कर्म। इसके भेद हैं—१. दर्शनमोहनीय, और २. चारित्रमोहनीय कर्म। दर्शनमोहनीय में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ 'दर्शन' एवं सच्ची श्रद्धा के अर्थ में है। उसके साथ मोहनीय जुड़ने से दर्शनमोहनीय शब्द बना। दर्शन में भी अर्थात् सम्यग्दर्शन-यथार्थदर्शन एवं तत्त्वादि के वास्तविक स्वरूप में आत्मा को मोहित करने का काम दर्शनमोहनीय कर्म करता है। यहाँ मोहित करना अर्थात् भ्रम पैदा करना, दुविधा उत्पन्न करना, या शंकाशील बनाना, अर्थ है। अतः दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा को तत्त्व का यथार्थदर्शन (श्रद्धा) न करने देते हुए मिथ्यात्व दशा में रखने का काम करता है। इस तरह दर्शनमोहनीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म अपने-अपने अर्थ में स्वतन्त्र होने के कारण सर्वथा भिन्न है।

दर्शनमोहनीय कर्म—

यथावस्थितदर्शन अर्थात् वस्तु तत्त्व का सही सत्य स्वरूप जैसा सम्यग् है, वैसा दर्शन कराना अर्थात् उसमें श्रद्धा कराना यह दर्शन है। इनमें मोहित करने वाला अर्थात् शंका, सन्देह एवं भ्रम की स्थिति उत्पन्न करने वाला दर्शनमोहनीय कर्म है। यह शुद्ध-अर्धशुद्ध एवं अशुद्ध की तरतमता से तीन प्रकार का है।

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे॥
[उत्तरा. अ. ३३ श्लो. ९]

दंसण-मोहं ति-विहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्ध अद्ध-विसुद्धं अ-विसुद्धं तं हवइ कमसो।
[कर्मग्रन्थ]

दर्शनमोहनीय कर्म

सम्यक्त्व मोहनीय | मिश्र मोहनीय | मिथ्यात्व मोहनीय

कर्मग्रन्थकार महर्षि ने दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ गिनाई हैं। १. सम्यक्त्व मोहनीय २. मिश्रमोहनीय और ३. मिथ्यात्वमोहनीय नाम से दर्शन-मोहनीय के तीन भेद बताए हैं। ये क्रमशः शुद्ध, अर्धशुद्ध एवं अशुद्ध होते हैं। सम्यक्त्वमोहनीय को शुद्ध कहा है, मिश्र मोहनीय को अर्धशुद्ध कहा है एवं मिथ्यात्व मोहनीय को अशुद्ध कहा है। उदाहरण के लिए जैसे किसी धान्य को शुद्ध, अर्धशुद्ध एवं अशुद्ध तीन प्रकार की अवस्था में रखा जा सकता है। धान्य (अनाज) को साफ करके पूर्णतः शुद्ध कर दिया जाय वह शुद्ध कहलाएगा। २. जिसे कुछ साफ किया जाय और कुछ मलिन रखा जाए वह अर्धशुद्ध कहलाता है, और तीसरा जो साफ किया ही नहीं गया है, वह सर्वथा अशुद्ध ही है। आत्मा पर लगे हुए दर्शनमोहनीय कर्म के पुद्गल परमाणु सर्वथा अशुद्ध ही है, इन्हें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म कहते है, और २. जिसने आधे कर्म परमाणु अशुद्ध किये हों और आधे अशुद्ध रहे हों ऐसी अर्धशुद्ध अवस्था को मिश्रमोहनीय कहते हैं। ३. जिसे सर्वथा शुद्ध कर दिए गए हों उसे शुद्ध सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। इसे ही पानी, कपड़े आदि के दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है। १. सर्वथा गंदे पानी के जैसा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म। २. कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध ऐसे अर्धशुद्ध पानी के जैसा मिश्र मोहनीय कर्म है। ३. सम्पूर्ण शुद्ध पानी के जैसा सम्यक्त्वमोहनीय कर्म है।

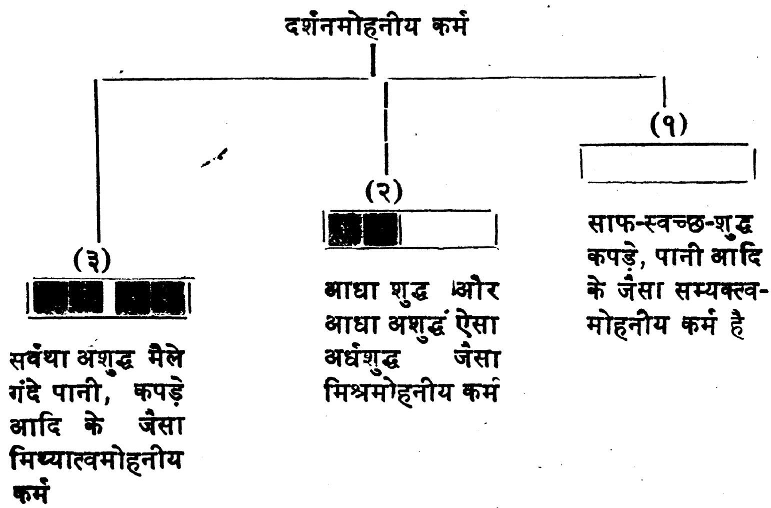

इसी तरह आत्मा पर लगे हुए कार्मणवर्गणा के पुद्‌गल परमाणु जो मोहनीय र्म के दलित हैं, उन्हें आत्मा शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध तीन प्रकार से रखती है। दि मोहनीय कार्मणवर्गणा के अशुद्ध पुद्‌गलों को शुद्ध किया ही न हो, वे सर्वथा शुद्ध ही पड़े हों, तो उन्हें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के बताए जाते हैं।

मैले कपड़े को हम जिस तरह धोते हुये शुद्ध-शुद्धतर और शुद्धतम करते ाते हैं वैसे ही आत्मा के कर्म परमाणु भी अशुद्ध से अर्धशुद्ध और आगे शुद्ध-ुद्धतर-शुद्धतम होते जाते हैं। अर्धशुद्ध अवस्था में उन्हे मिश्रमोहनीय कहा जाता है था सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था में उन्हें सम्यक्त्वमोहनीय कहा जाता है।

१. सम्यक्त्वमोहनीय कर्म—

यह दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृत्ति है। प्राप्त हुए सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा में ो दोष लगाए, उसमें शंकाशील-संशयी बनाए तथा भ्रम पैदा करे, वह सम्यक्त्व-ोहनीय कर्म है। आत्मा पर से मिथ्यात्व के मलिन अशुद्ध पुद्‌गल परमाणु निकल ाए हों, या आत्मा ने मिथ्यात्व के पुद्‌गल परमाणुओं को शुद्ध कर लिए हों, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। शुद्ध किए हुए मिथ्यात्व के पुद्‌गल परमाणु की स्थिति को सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं।

२. मिश्र मोहनीय कर्म—

मिथ्यात्व के पुद्‌गल परमाणुओं को आत्मा पूर्ण रूप से धोकर शुद्ध न कर सके तथा अर्धशुद्ध अवस्था रह जाय जिसमें कुछ अंश शुद्ध का और कुछ अशुद्ध का रहे उसे मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं। अर्थात् जिसमें कुछ अंश सम्यक्त्व का भी रहे और कुछ अंश मिथ्यात्व का भी रहे। ऐसे शुद्ध-अशुद्ध अर्थात् सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की मिश्रित अवस्था को मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं। सम्यक्त्व + मिथ्यात्व = मिश्रमोहनीय कर्म। मिश्रमोहनीय कर्म में श्रद्धा और अश्रद्धा तथा सत्य और असत्य दोनों के प्रति मिश्रभाव रहता है। इसके उदय से सुदेव, सुगुरु, सुधर्म तथा जीवादि तत्वों के विषय में ऐसी श्रद्धा नहीं हो पाती है कि यही सत्य है और यही असत्य है। ऐसी अश्रद्धा भी नहीं होती है। ऐसे मिश्रभाव को मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं। इसके कारण जीव को सच्चे और झूठे

दोनों ही प्रसंग में मिला हुआ मिश्रित भाव रहता है। अतः इसे अर्ध विशुद्ध कक्षा कहते हैं।

मीसा न राग-दोसो जिण-धम्मे अंत-मुहू जहा अन्ने।
नालियर-दीव-मणुणो, मिच्छं जिण-धम्म-विवरीअं॥
[प्र० कर्मग्रन्थ-१६]

कर्मग्रन्थकार मिश्रमोहनीय को समझाने के लिए उपरोक्त श्लोक में दृश्टांत देते है। नालीकेर-द्वीप नामक द्वीप में, जहाँ अन्न उत्पन्न नहीं होता है, सिर्फ नारियल ही होते हैं, ऐसे नालीकेरद्वीप के मनुष्य जिन्होंने कभी अन्न देखा ही न हो, और खाया भी न हो, परन्तु कभी स्थान विशेष या क्षेत्र विशेष में कोई अन्न का पदार्थ खाने के लिए दिया जाय, तब उन्हें उस अन्न के प्रति न कोई विशेष राग है और न कोई विशेष द्वेष है, परन्तु उभय रूप से मिश्रभाव है। वैसे ही मिश्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण वीतराग के सम्यग् धर्म के प्रति जिसे न कोई राग और न ही कोई विशेष द्वेष हो उसे मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं। यह अन्तरमुहूर्त काल तक रहता है।

३. मिथ्यात्व मोहनीय कर्म—

मिच्छं जिण धम्म विवरीअं—वीतराग जिनेश्वर के सम्यग्-सत्य धर्म से विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। सर्वज्ञ-जिन प्रणीत धर्म से सर्वथा विपरीत मति-बुद्धि हो तथा शुद्ध धर्म सर्वथा रूचिकर न हो उसे मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं। जिस कर्म के कारण आत्मा-परमात्मा-मोक्ष आदि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा ही न हो तथा देव-गुरु, धर्म को मानने ही नहीं या ठीक विपरीत बुद्धि रखने वाला हो उसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके कर्म पुद्गल परमाणु सर्वथा अशुद्ध ही होते हैं।

दृष्टांत द्वारा समझ—

दर्शनमोहनीय की इन तीनों प्रकृतियों को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टांत दिए गए हैं। १. मदनकोद्रव अन्न का दृष्टांत, २. पानी का दृष्टांत, ३. वस्त्र का दृष्टांत। इन दृष्टांतों में मुख्य हेतु शुद्ध, अर्धशुद्ध एवं अशुद्ध का है। अतः

किसी एक को समझने से सभी समझ में आ सकते हैं। जैसे वस्त्र के विषय में सोचें– तीन अवस्था के वस्त्र का दृष्टांत लें। (१) रसोई घर के मैले कपड़े की तरह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के सर्वथा अशुद्ध पुद्गल परमाणु होते हैं। (२) कुछ धोए हुए और कुछ मैले ऐसे अर्धशुद्ध वस्त्र की तरह मिश्रमोहनीय कर्म की स्थिति रहती है, जिसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के मिश्र पुद्गल परमाणु रहते हैं। (३) सर्वथा शुद्ध धोए हुए वस्त्र की तरह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के पुद्गल परमाणु रहते हैं।

मिथ्यात्व का स्वरूप—

"यथा दृष्टि तथा सृष्टि" जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसकी वैसी सृष्टि होती है। उदाहरण के लिए निर्दोष दृष्टि से सब कुछ दोष रहित दिखाई देता है, परन्तु यदि दृष्टि दोष युक्त है तो पदार्थ सदोष दिखाई देगा। यदि किसी को कमला (पीलिया) रोग हुआ हो तो, उसे सफेद दूध भी पीला दिखाई देता है। काले चश्मे पहने हुए व्यक्ति को सफेद कपड़ा आदि वस्तु काली दिखाई देती है। जैसी दृष्टि की बात है वैसी ही मति की भी बात है। दृष्टि से देखना होता है और मति से जानना-मानना होता है। जैसे दृष्टि रोगादि कारणों से विपरीत बनती है, वैसे ही मति मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के कारण विपरीत बनती है। अतः विपरीत मति वाला जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीव सभी तत्त्वादि की बातों को विपरीत ही जानता है और विपरीत ही मानता है। जैसे आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, जीव-अजीव, लोक-अलोक, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म-पूनर्जन्म, और बंध-मोक्ष, तथा देवगुरु-धर्मादि तत्त्वों का स्वरूप वह सर्वथा विपरीत ही जानता है, और विपरीत ही मानता है। अतः उसे मिथ्यामतिजीव, मिथ्यादृष्टि, या मिथ्यात्वीजीव कहते हैं। अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न मानना, जिसका जैसा स्वरूप है उसका वैसा यथार्थ स्वरूप न मानना यह मिथ्यात्व कहलाता है। इस तरह प्रत्येक विषय में वह उल्टा-विपरीत ही चलता है। ऐसे मिथ्यात्व की भिन्न-भिन्न दस प्रकार की दृष्टियाँ या संज्ञाएं बताई गई हैं—

मिथ्यात्व की १० संज्ञाएं—

धम्मे अधम्म, अधम्मे–धम्मह, सन्ना मग्ग उमग्गाजी।
उन्मार्गे मरग की सन्ना, साधु असाधु संलग्गा जी।
असाधु मां साधु नी सन्ना, जीव-अजीव जीव वेदो जी,
मुत्ते अमुत्त, अमुत्त मुत्तह, सन्ना 'दस भेदो जी ॥

१. धर्म में अधर्म संज्ञा—

क्षमा, मार्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनत्व और ब्रह्मचर्य आदि दस प्रकार के धर्म को धर्म रूप न मानना, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपादि का धर्म भी न मानना, तथा दर्शन-पूजा, सामायिक-प्रतिक्रमण, आयंबिल-उपवास, तथा पौषध आदि को धर्मरूप न मानते हुए उसमें अधर्म बुद्धि रखना, यह पहली मिथ्यात्व की संज्ञा है।

२. अधर्म में धर्म की संज्ञा—

हिंसा, झूंठ. चोरी, दुराचार-व्यभिचार, एवं संभोग में समाधि, अनाचार आदि पाप प्रवृत्ति रूप अधर्म में धर्म की बुद्धि रखना या उसे धर्म मानना।

३. सन्मार्ग को उन्मार्ग मानना—

जिससे आत्मा का कल्याण हो, पुण्य का बंध हो, या मोक्षमार्ग रूप जो सत्य मार्ग है, उसे उल्टा पाप मार्ग मानना, तथा साधु एवं श्रावक के यम-नियम आदि व्रत-महाव्रतादि के मार्ग को गलत मार्ग मानना। इस तरह हितावह सुमार्ग को उन्मार्ग समझना।

४. उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना—

जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो, उसे ही मोक्ष का मार्ग मान लेना, या पशुयाग, नरबलि, अश्वमेध यज्ञ, आदि हिंसा जन्य-योगादि से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति मानना, भोगलीला में ही धर्म मानना, अन्याय अनीति, कूटनीति, कुरीति आदि में भी पुण्य मानने की बुद्धि, आदि उन्मार्ग भी मिथ्यात्व कहलाता है।

५. असाधु को साधु मानना—

धन-सम्पत्ति-ऐश्वर्य एवं भोगविलास वाले महाआरम्भी-परिग्रही एवं स्त्री-लुब्ध, मोहासक्त, परभावरत, एवं कंचन-कामिनी के भोगी, ऐसे वेशधारिओं को साधु मानना, या उन्हें गुरुरूप मानना यह मिथ्यात्व है।

६. साधु को असाधु मानना—

जो सच्चे साधु हैं, गुण सम्पन्न हैं, कंचन-कामिनी के सर्वथा त्यागी, तपस्वी, पंचमहाव्रतधारी, आरम्भ-परिग्रह के त्यागी, पंचदिय सूत्र में वताए गए छत्तीस गुण

सम्पन्न, सच्चे साधु महात्मा को साधुरूप या गुरुरूप न मानना यह भी मिथ्यात्व की वृत्ति है।

७. जीव को अजीव मानना—

संसार की चारगति में ५६३ प्रकार के जो जीवों के भेद बताए गए हैं, ऐसे कृमि-कीट-पतंग-चूहा-बिल्ली, तोता-मैना, कौआ-कोयल, सांप-मोर, गाय-बैल, भेड़-बकरी, हाथी, घोड़ा स्त्री-पुरुष एवं वनस्पतिकाय आदि स्थावरों में जीव होते हुए भी उनमें जीव न मानना, एवं वे जीव रहित हैं, अतः उन्हें मारने में, खाने में कोई पाप नहीं है, इस तरह चेतना लक्षण वाले जीव के अस्तित्व को न मानते हुए उल्टे अजीव निर्जीव हैं ऐसी बुद्धि रखना, यह मिथ्यात्व की संज्ञा है।

८. अजीव में जीव बुद्धि—

यह ऊपर के पक्ष से ठीक उल्टा है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन जो कि जीव रूप नहीं है, जो जड़ है उन्हें जीव मानना, या पौद्गलिक पदार्थ के संयोजन से या रासायनिक संयोजन आदि से जीव उत्पन्न होता है, या जीव बनाया जा सकता है। इस तरह अजीव में भी जीव मानने की बुद्धि यह भी मिथ्यात्व की संज्ञा है।

९. मूर्त को अमूर्त मानना—

जो मूर्तिमान-साकार रूपी पदार्थ है उसे अरूपी-अमूर्त मानना जैसे पुद्गल स्कंध को अमूर्त-अरूपी मानना, या शरीर, इन्द्रिय, और मन को अरूपी-अमूर्त मानना, कर्म मूर्त होते हुए भी उसे अमूर्त मानना, यह विपरीत बुद्धि भी मिथ्या संज्ञा है।

१०. अमूर्त को मूर्त मानना—

उपरोक्त बात का यह ठीक विपरीत भेद है। इसमें अरूपी अमूर्त आत्मा को रूपी एवं मूर्त-साकार मानने की बुद्धि होती है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय आदि अरूपी-अमूर्त पदार्थों को रूपी-मूर्त मानना, यह उल्टी मान्यता मिथ्यात्व की संज्ञा है।

इस तरह मिथ्यात्व के कारण जिसकी मति विपरीत हो चुकी हैं, वह ऐसी अनेक विपरीत मान्यताएं रखकर चलता है, एवं विपरीत व्यवहार भी करता है।

ऐसे और भी कई विषयों में अनेक संज्ञाएं हो सकती है। जैसे, वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान को रागी-द्वेषी एवं अल्पज्ञ मानना या सर्वकर्ममुक्त सिद्धात्मा में भी राग-द्वेष की संसारी बुद्धि रखना। सर्व कर्म रहित परमात्मा भी दैत्य-दानवों का दमन करते हैं, इच्छा पूर्ण करने वाले भगवान कहलाते हैं, या राग-द्वेष वाले भोगलीला करने वाले भी भगवान होते हैं ऐसी मान्यता रखना, यह मिथ्यात्व की मति है।

इस तरह मिथ्यात्व के कारण जीव कई प्रकार की विपरीत मान्यताएं रखता है। मिथ्यात्वी का सारा ज्ञान विपरीत बुद्धि वाला होता है। ऐसे मिथ्यात्व को दो विभाग में विभक्त किये गये हैं—१. तत्व पदार्थ के विषय में यथार्थ श्रद्धा का अभाव रूप मिथ्यात्व, एवं २. अयथार्थ तत्त्व-पदार्थ पर श्रद्धा रूप मिथ्यात्व। वैसे आपाततः देखने पर दोनों भेदों में कोई विशेष अन्तर नहीं लगता है क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के ठीक उल्टे हैं। फर्क इतना ही है कि पहला प्रकार मूढ़ या अज्ञान दशा में या समझदार ज्ञान वाले को भी होता है। इस दूसरे प्रकार के मिथ्यात्व में विचारशक्ति का या ज्ञानदशा का विकास होते हुए भी अभिनिवेश के कारण किसी एक दृष्टि को कदाग्रहवश पकड़कर रखने के कारण विचार शक्ति या ज्ञानदशा अतत्त्व के पक्षपात के कारण मिथ्या-दृष्टि हो जाती है। यह उपदेशजन्य होने के कारण अभिग्रहीत कहलाता है, जबकि पहले प्रकार में श्रद्धा का अभाव रूप जो मिथ्यात्व है उसमें विचार दशा विकसित हुई ही न हो, ऐसे अनादिकालीन कर्मावरण के दबाव से जो मूढ़ दशा होती है, ऐसे समय में तत्त्व की अश्रद्धा या अतत्त्व की श्रद्धा भी नहीं होती है। उस समय मात्र मूढ़ता के कारण अश्रद्धा अश्रद्धा कह सकते हैं। यह उपदेश निरपेक्ष, नैसर्गिक होने के कारण अनभिगृहीत कहलाती है। किसी दृष्टि पंथ या पक्ष या विपक्ष का ऐकान्तिक कदाग्रह अभिगृहीक मिथ्यात्व कहलाता है। यह अभिगृहीक मिथ्यात्व विकसित विचार शक्ति वाले मनुष्य में होता है। जबकि मूढदशा का अनभिगृहीक मिथ्यात्व कृमि-कीट-पतंग पशु-पक्षी आदि मूर्च्छित चैतन्य वाले जीवों में रहता है।

शास्त्रकार महर्षियों ने मिथ्यात्व के विषय में भिन्न-भिन्न पांच प्रकार बताएं हैं।

मिथ्यात्व के पांच प्रकार—

आभिग्गहिअमाणभिग्गहं, च तह अभिनिबसिअंचेव।
संसइअमणाभोगं, मिच्छतं पंचहा एअं ॥

मिथ्यात्व के ५ प्रकार

अभिगृहीक	अनभिगृहिक	अभिनिवशिक	सांशयिक	अनाभोगिक

१. अभिगृहिक मिथ्यात्व—

अभिगृह अर्थात् एक प्रकार की पकड़। कई लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने-अपने मत का आग्रह रखते हैं। हमने जो ग्रहण किया है वही धर्म सच्चा है, भले ही वह गलत भी हो, झूठा भी हो, परन्तु हम तो इसे ही मानेंगे, नहीं छोड़ेंगे ऐसा अभिगृह अभिगृहिक मिथ्यात्व कहलाता है। विपरीत बुद्धि के कारण अतात्त्विक किसी भी दर्शन को सत्य मानना एवं युक्त तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा, रूप मति अभिगृहिक मिथ्यात्व कहलाती है। प्रवाह रूप से आई हुई मान्यता को बिना समझे विचारे पकड़ रखना, अपने मत का कदाग्रह (की हठ) रखना, उसमें सत्यासत्य की परीक्षा न करना, यह अभिगृहिक मिथ्यात्व कहलाता है। उदाहरणार्थ "**तातस्य कुपोयमिति ब्रुवाणाः कापुरुषाः क्षारं जलं पिबन्ति**" "यह मेरे बाप का कुआ है" ऐसे बोलने वाले कायर पुरुष खारा पानी पीते रहते हैं। अन्यत्र मीठा पेयजल मिलने पर भी अपने हठाग्रह के कारण खारा पानी पीते रहना, और मीठा पानी पीने न जाना, यह अभिग्रहिक मति है। ठीक ऐसे ही हिंसाचारादि में धर्म बुद्धि मानकर उसे करते रहना, परन्तु अहिंसा के धर्म को न अपनाना, जैसे गाय को गौमाता मानकर, उसमें ३३ करोड़ देवताओं का वास मानकर, उसकी पूजा भी करना, और यज्ञ-याग-होम-हवन में उसका वध करने की हिंसा को भी धर्म मानने की बुद्धि यह सम्यग् कैसे हो सकती है? अश्वमेध यज्ञ या पशु पुरोडाश वाले हिंसा-परक यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता कैसे सम्यग् हो सकती है? फिर भी हमारी मान्यता हम नहीं छोड़ेंगे, ऐसा मिथ्या आग्रह अभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। सारंभी-परिग्रही, कुशीलवान को भी धर्म बुद्धि से पकड़कर रखना, उन्हें ही आदर्श मानना, एवं दुराग्रह-कदाग्रह वृत्ति से जिसका विवेक रूप दीपक बुझ गया है, ऐसे अविवेकी पाखंडी एवं पापाचार की भोगलीला चलाने वाले तथा उसे ही धर्म मानकर उसमें ही पड़े हुए एवं उसमें से बाहर न निकलने वाले अभिग्रहिक मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं। इसमें सच्चे तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा होती है। विपरीत समझ एवं अभिग्रह पकड़ की प्राधान्यता रहती है।

२. अनभिग्रहिक मिथ्यात्व—

न अभिग्रह इति अनभिग्रह ! अभिग्रह अर्थात् पक्कड । न अभिग्रह अर्थात् जिसमें कदाग्रह-दुराग्रह नहीं है, परन्तु सच्चे-झूठे सबके प्रति समान बुद्धि है, उसे अनभिग्रहिक कहते हैं । जैसे मणि और कांच दोनों ही समान हैं । हीरा, रत्न और पत्थर सब एक सरीखे ही हैं । ऐसी ही मान्यता तत्त्व-धर्म-भगवानादि के विषय में रहती हो, उसे अनभिग्रहिक मिथ्यात्व कहते हैं । इसमें किसी एक ही भगवान या धर्म का कदाग्रह न रहते हुए, सभी भगवान या धर्म के प्रति समान बुद्धि रहती है । पीलेपन के कारण सोना और पीतल सभी एक सरीखे हैं ऐसा मानना । ठीक वैसे ही कोई विशेष तुलना या परीक्षा आदि न करते हुए धर्म-भगवान-एवं तत्त्व के विषय में भी समान बुद्धि या एकसी धारणा रखना, और कहना कि "सब भगवान भगवान ही तो है ।" इसलिए सभी भगवान एक ही हैं, "जगत् पिता एक ही है", "मात्र नाम भिन्न-भिन्न हैं ।" "चाहे जो भी कोई नाम भजो भगवान-भगवान के बीच में कोई फर्क नहीं है ।" उसी तरह सभी धर्म एक ही हैं । धर्म कोई अलग-अलग नहीं है । जैसे एक शहर तक पहुँचने के अनेक रास्ते हैं, चाहे जिस किसी रास्ते से जाओ, सभी रास्ते एक जैसे ही हैं । वैसे ही मोक्ष तक पहुँचने के लिए सभी धर्म मार्ग एक जैसे हैं । इसलिए सभी धर्म एक सरीखें ही हैं । ऐसी मान्यता अनभिगृहिक मिथ्यात्वी की होती है ।

ऐसा मिथ्यात्वी भेल-सेल-मिलावट-मिश्रण करने वाले व्यापारी के जैसा होता है । वह अच्छे-खराब सबका मिश्रण करके चलता है । रागी और वितरागी, द्वेषी और क्षमाशील, क्रोधी और समता के सागर, सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, भोगलीला वाले और त्यागी तपस्वी, संसारी और मुक्त, कर्मरहित और कर्मसहित, अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी सभी को एक जैसे भगवान के रूप में ही मानता है क्योंकि उसकी बुद्धि ही वैसी है । वह न तो प्रीक्षा करता है और न ही तुलना करता है । जैसे मणि-कांच, सोना-पीतल, हीरा-पत्थर, दूध-छाछ आदि सभी को एक मानने की बात करता है । मुख्य कारण तो यह है कि ऐसे मिथ्यात्वी में दरअसल या तो ज्ञान ही नहीं है या तुलना करने की बुद्धि ही नहीं है । इसमें यथार्थ समझ का अभाव एवं सरलता मुख्य रूप से कारण बनती है । मतिमंदता एवं जड़ता के मुख्य कारण से वह मिथ्यात्वी रहता है । जैसे एक फेरीवाला अपने माल की बिक्री के लिए रास्ते पर चिल्लाता रहता है—"सब एक-एक रुपया, सब एक-एक रुपया" "कोई भी वस्तु खरीदो, सब एक-एक रुपया" । ऐसा फेरीवाला जो दस पैसे, चार आने, आठ आने की वस्तु की कीमत भी एक रुपया, और दो-चार-आठ रुपये की वस्तु की कीमत

भी एक रुपया, इस तरह सबको एक जैसी बताता है। वैसे ही अनभिगृहिक मिथ्यात्वी जीव भी सच्चे-झूठे, त्यागी-भोगी सभी भगवान, गुरु और धर्म को एक जैसा ही मानता है। यह उनकी अनभिगृहिक मिथ्यावृत्ति है। कई बार इस प्रकार के मिथ्यात्वी जीव ऐसा कहकर अपनी बात किसी के दिमाग में ठसाते हैं कि—अरे भाई ! मैं तो उदार वृत्तिवाला हूँ, विशाल भावना वाला हूँ, मैं संकुचितवृत्ति वाला नहीं हूं। इसलिए सभी भगवान को और सभी धर्म को एक ही मानता हूँ। इसलिए ऐसी उदार या विशाल भावना के कारण मैं बड़ा एवं महान् बनना चाहता हूँ। इस तरह वह अपनी वृत्ति दूसरों को भी समझाता है। स्वाभाविक है कि शब्दों की ऐसी मीठी जाल से दूसरे उसकी मिथ्यावृत्ति की भी प्रशंसा करने लग जाते हैं, और उसे एक अच्छा उदार दिल, विशाल भावना वाला मानने लगते हैं।

अनभिगृहिक मिथ्यात्वी की ऐसी विचारधारा एवं विशालता और उदारता के बारे में यदि हम तर्क-युक्ति एवं बुद्धि पूर्वक सोचें तो कुछ और ही लगेगा। तर्क-युक्ति ऐसी दुविधा खड़ी करते हैं कि—१. जितना पीला है उतना सोना है, या जितना सोना है उतना पीला है। २. जो चमकती है वह चांदी है या जो चांदी है वह चमकती है। जो स्त्री है वह माता है या जो माता है वह स्त्री है। ४. जहां धुंआ होता है वहां अग्नि रहती है या जहां अग्नि होती है वहां धुंआ रहता है ? ५. जो मनुष्य है वह खाता है या जो खाता है वह मनुष्य कहलाता है ६. जो अरिहंत होते हैं वे भगवान कहलाते हैं ? या जो भगवान होते हैं वे अरिहंत कहलाते हैं। ७. जो हीरा होता है उसे रंगीन पत्थर कहना या जो रंगीन पत्थर होता है उसे हीरा कहना। ऐसे संदेहास्पद अर्थात् थोड़ी देर के लिए दुविधा में आने वाले ऐसे तर्क-युक्ति वाले कई प्रश्न खड़े होते हैं। परन्तु इनमें सही-सत्य छिपा हुआ है। तर्क एवं युक्ति पूर्वक तीक्ष्ण बुद्धि चलाने वाला इनमें से सही सत्य का सार खोज निकालेगा। परन्तु ऐसा अनभिगृहिक मिथ्यात्वी जो कि मंदमति है वह बुद्धि का उपयोग करने की झंझट में नहीं पड़ता है। तुलना और परीक्षा करने की भी उसकी वृत्ति नहीं होती है। अतः वह "सब एक है" ऐसा आसानी से कहता और मानता है। यदि परीक्षक बुद्धि से तुलना और परीक्षा करके सत्य खोजने के लिए छानबीन की जाय तो इसमें से हल्का-पतलासा अन्तर रखने वाला सत्य अन्तर जरूर मिलेगा। छाछ में घी नहीं दिखाई देते हुए भी मंथन करने पर जो नवनीत निकलता है उसमें से घी प्राप्त होता है। सत्य की खोज करना यह सम्यक्त्वी का कार्य है।

उपरोक्त तर्क-पूर्ण वाक्यों में सत्य खोजने की बुद्धि से यदि देखा जाए तो स्पष्ट दिखाई देता है कि—१. जो सोना होता है वह पीला जरूर होता है परन्तु जो पीला होता है वह सोना नहीं भी होता है क्योंकि पीतल भी पीला होता है, परन्तु उसे सोना नहीं कह सकते हैं। लेकिन सोने को जरूर पीला कहते हैं। २. जो चांदी होती है वह जरूर चमकती है, परन्तु जो कुछ चमकती हुई हो उसे चांदी नहीं भी कह सकते हैं, क्योंकि जिक धातु भी चांदी की तरह चमकीली होती है। अतः न तो जिक को चांदी कहते हैं और न ही चांदी को जिक कह सकते हैं। चमकीलेपन के सादृश्य से धातु जैसी दिखाई देती है, परन्तु एक नहीं होती है। ३. जो माता होती है वह स्त्री अवश्य ही है, परन्तु जो स्त्री होती है वह माता नहीं भी होती है क्योंकि वंध्या भी स्त्री जरूर है परन्तु वह माता नहीं होती है। इस तरह स्त्रीपने का सादृश्य होते हुए भी मातृत्व भाव अलग ही है। ४. जहां धुंआं रहता है वहां अग्नि अवश्य ही रहती है, परन्तु जहां अग्नि रहती है वहां धुंआं नहीं भी रहता है। "तप्तअयःपिंडआयोगोलक' भट्टी में तपाया हुआ लोहे का गोला बाहर रखा हुआ हो वहां अग्नि जरूर रहती है, परन्तु धुंआं नहीं होती है। ५. जो मनुष्य है वह जरूर खाता है, परन्तु खाने वाले सभी मनुष्य नहीं भी होते हैं, क्योंकि पशु भी खाते हैं। ६. जो अरिहंत होते हैं वे अवश्य ही भगवान कहलाते हैं, परन्तु जो भगवान कहलाते हैं वे अरिहंत नहीं भी होते हैं, क्योंकि ऐसे कई रागी-द्वेषी एवं भोगीलीला वाले भी अपने आपको भगवान कहते हैं। तथा वर्तमान कलियुग में कई बन बैठे हुए भगवान भी हैं जो भोगलीला एवं पापलीला चला रहे हैं। वे अपने आपको भगवान कहते और कहलाते हैं, वे अरिहंत वीतराग नहीं कहला सकते हैं। कोष के आधार पर "भग" शब्द के १४ अर्थ बताए गए हैं अतः १४ प्रकार के "भगवान" हो सकते हैं, परन्तु अरिहंत तो मात्र वीतरागी-सर्वज्ञ ही होते हैं। ७. जो हीरा होता है, वह जरूर रंगीन पत्थर कहलाएगा, क्योंकि वह पत्थर की जाति का हैं और रंगबिरंगा है, परन्तु हर रंगीन पत्थर हीरे की जाति का नहीं होता है। अतः वह हीरा नहीं कहलाता है। रंगीनता का सादृश्य होते हुए भी जाति रूप से हीरे और पत्थर का भेद रहता है।

इस प्रकार के तर्क-युक्ति पूर्वक विचार करना अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी के लिए बड़ा मुश्किल है। अतः वह बौद्धिक व्यायाम नहीं करना चाहता है। इसलिए "सब भगवान एक हैं" "सब धर्म एक है" इत्यादि मानना उसके लिए बड़ा आसान और सरल लगता है, परन्तु अच्छी तरह से विचार करें तो ऐसा लगेगा कि—हम ठगे

जा रहे हैं। पीला देखकर यदि सोना खरीद लिया तो नुकसान हमारा ही होगा। इसलिए सोने की भी परीक्षा करके ही खरीदना चाहिए। सोने की परीक्षा भी आसान नहीं है। कष-छेद-भेद और ताप इन चार प्रकार से परीक्षा की जाती है। उसी तरह संसार के व्यवहार में हर वस्तु की परीक्षा की जाती है। अतः अच्छा यह होगा कि हम देव-गुरु-धर्म आदि तत्त्वों की परीक्षा करके ही उन्हें स्वीकार करें। तार्किकशिरोमणि पूज्य हरिभद्रसूरी महाराज कहते हैं कि—**"धर्मो धर्मार्थीभिः सदाज्ञया परिक्षीतः।"** धर्मार्थी-धर्म की इच्छा वाली आत्मा को सदा धर्म की परीक्षा करके ही उसे स्वीकारना चाहिए। शायद आप सोचेंगे कि—हमें धर्म की परीक्षा करने का क्या अधिकार है? हम किस बुद्धि से भगवान की परीक्षा करें? हमारे पास कहां इतना ज्ञान है कि हम तत्त्वों की परीक्षा कर सकें? बात सही है। सोचिए! हमने सोने की परीक्षा कैसे की? कसौटी पर कसके ही परीक्षा की कि यह सोना है। वैसे ही धर्मशास्त्रों ने हमें ऐसे कसौटी रूप सिद्धान्त बताए है जिससे हम भगवान और धर्म की भी परीक्षा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए "नमो अरिहन्ताणं" पद दिया है। अरिहंत परमात्मा को नमस्कार किया है। भगवान को 'अरिहंत' शब्द से संबोधित किया है। "अरि" = आंतर शत्रु। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्मा के आभ्यन्तर शत्रु हैं। 'हंत' अर्थात् हनना = नाश करना। अरिहंत अर्थात् राग-द्वेषादि आंतर शत्रुओं के विजेता, ऐसे अरिहंत भगवान को नमस्कार किया गया है। नमुत्थुणं के पाठ में **"नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवन्ताणं"** ये शब्द पहली संपदा में दिये गये हैं। अर्थ है—**"नमस्कार हो अरिहन्त भगवन्तों को"** यहां प्रश्न उठता है कि—जो-जो अरिहंत होते है वे भगवान होते हैं? या जो भगवान होते हैं वे अरिहन्त होते हैं? इस तर्क का उत्तर यदि हम ऐसा दें कि—जो-जो भगवान होते हैं वे अरिहन्त होते हैं। तो सोचिए! यह कहां तक सही लगेगा? क्योंकि संसार में भगवान कई प्रकार के होते हैं, तथा भगवान शब्द के भी कई अर्थ होते है। भोगलीला करने वाले को भी लोग भगवान कहते हैं। कोई अपने आप ही भगवान बन बैठते हैं। कोई "संभोग से समाधि" ऐसे पापाचार, दुराचार एवं दंभ चलाने वाले भी भगवान कहलाते हैं। कोई चमत्कारों को दिखाकर भी भगवान बनने का स्वांग करते हैं। इस तरह ऐसे कर्मयुक्त रागी-द्वेषी कई भगवान बन बैठते हैं। वे अरिहंत वीतराग कैसे हो सकते हैं? क्योंकि अरिहन्त तो राग-द्वेषादि सर्व आभ्यन्तर-कर्मशत्रु रहित होते हैं। इसलिए जो-जो भगवान होते हैं वे अरिहंत हैं, ऐसा मानना, या कहना सही नहीं भी है, तर्क—युक्ति शून्य है। इसलिए

"नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवन्ताणं" इस पाठ की रचना में शब्दों का जो क्रम दिया हैं, वह इस तर्क-युक्ति का प्रमाण सिद्ध करता है । अतः जो-जो अरिहंत होते हैं वे भगवान अवश्य कहलाते हैं। यही इस परीक्षा (या कसौटी) पर खरा उतरता है। इस दृष्टिकोण से सोचने पर भी "सब भगवान एक है" यह बात रत्तीभर भी सही नहीं लगती है।

एक सज्जन ने प्रश्न किया कि—भक्तामरस्तोत्र आदि कई स्तुतियों में कई भगवानों के नाम एक साथ लेकर नमस्कार किया गया है तो उसमें क्या समझना चाहिए ? उदाहरण के लिए—

(१) **भवबीजांकुर जनता रागाद्यो क्षयमुपागता यस्य ।**
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

(२) **बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धि-बोधात्,**
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधे-विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

इन स्तुतियों में ब्रह्मा, विष्णु, हर-महादेव, तथा जिन भगवान आदि सभी को एक साथ नमस्कार किया गया है। वैसे ही भक्तामरस्तोत्र की इस स्तुति में भी बुद्ध, शंकर, धाता-विधाता, पुरुषोत्तम आदि भगवान के नामों का एक साथ उल्लेख करके नमस्कार किया गया है।

"सब भगवान एक है" ऐसा वे मानते या स्वीकारते होंगे। तभी तो उन्होंने ऐसी स्तुतियां की होगी ?

महाशयजी ! आपका कहना ठीक है। परन्तु इसका रहस्य समझने पर सम्भव है कि आपकी भ्रांति दूर हो जाय। आपने उपरोक्त स्तुति में सिर्फ भगवान के प्रचलित नामों पर ही ध्यान दिया है, परन्तु समूचे अर्थ पर ध्यान नहीं दिया, ऐसा लगता है। देखिए—सभी को नमस्कार जरूर किया गया है, परन्तु वह नमस्कार सशर्त किया गया है। "**भवबीजांकुर जनना रागद्यो क्षयमुपागतायस्य** ।" अर्थात् भव-संसार के बीज रूप राग-द्वेष आदि का जिसने सर्वथा क्षय कर दिया है ऐसे नामधारी चाहे जो भी कोई हो, भले ही वे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हर महादेव हो, या जिनेश्वर

भगवान हों, उन सब को मेरा नमस्कार हो। इसमें सब भगवान को एक मानकर नमस्कार नहीं किया गया है, परन्तु यदि वे सभी राग-द्वेषादि आभ्यंतर कर्म-शत्रु रहित हों तो उन्हें मेरा नमस्कार हो, नाम से भले चाहे जो भी कोई हों। जैन धर्म में नाम की महिमा नहीं है, परन्तु गुणों की महिमा है। अतः जैन धर्म व्यक्तिवाची या व्यक्ति परक नहीं है। यह गुणवाची या गुणपरक है। नमस्कार महामन्त्र में किसी भगवान का नाम नहीं लिया गया है, और न ही नामवाची मन्त्र बनाए गए हैं। इसलिए **"नमो महावीराणां"** **"नमो आदिश्वराणं"** आदि मन्त्र नहीं दिये गये हैं। वैसे ही **"नमो भगवन्ताणं"** आदि ऐसी वाक्य रचना भी नहीं बनाई गई हैं परन्तु **"नमो अरिहंताणं"** **"नमो सिद्धाणं"** आदि महान अर्थ वाले मन्त्रपद दिये गये हैं। इसलिए आदीश्वर, महावीरस्वामी आदि चौबीस तथा भूत आदि अनन्त भगवानों का समावेश इस अरिहंत-सिद्ध पद में हो जाता है। अतः **"नमो महावीराणं"** आदि पदों की अपेक्षा **"नमो अरिहंताणं"** **"नमो सिद्धाणं"** आदि पद अनेक गुने अधिक महानार्थक एवं सार्थक हैं। आदीश्वर एवं महावीरस्वामी आदि भी भगवान कब कहलाए ? जब वे अरिहंत बने तब, अर्थात् काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि सर्व आत्मशत्रुओं का क्षय करके कर्मरहित वीतराग बने तब वे अरिहन्त भगवान कहलाएं। इसलिये स्तुति में इसे शर्त पूर्वक नमस्कार किया गया है कि— यदि ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, महादेव आदि कोई भी हों, परन्तु यदि वे भवबीज रूप राग-द्वेषादि कर्म से रहित हों तो ही उन्हें नमस्कार हो, अन्यथा नहीं। भक्तामरस्तोत्र की स्तुति में मानतुंगसूरि महाराज ने बुद्ध, शंकर, धाता-विधाता और पुरूषोत्तम आदि शब्दों का प्रयोग व्याकरणानुसार व्युत्पतिजन्य अर्थ लेकर जिनेश्वर भगवान को ही बुद्ध, शंकर, विधाता एवं पुरूषोत्तम आदि नामों से सार्थक सम्बोधित किया है।

इस तरह तर्क-युक्ति बुद्धिपूर्वक विचार किया जाय तो "सब भगवान एक है" ऐसी अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी की दृष्टि एवं मान्यता लेकर उपरोक्त स्तुतियां नहीं की गई हैं। तुलनात्मक एवं परीक्षात्मक बुद्धि से सही-सत्य समझते हुये ऐसी स्तुतियां महापुरुषों की है, वे महान सम्यग्दर्शनी थे। अतः सम्यक्त्वी तुलना एवं परीक्षा करके सब भगवान में से वास्तविक सही भगवान ढूंढ निकालने में परिश्रम करता है, जबकि मिथ्यात्वी के लिए "सब भगवान एक है" यह कहना बिना बुद्धि के उपयोग के बड़ा आसान है।

अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी एक और रसप्रद बात ऐसी कहता है कि—"मैं तो बड़ी उदारवृत्ति वाला हूँ" एवं "विशाल भावना वाला हूँ" इस तरह "मैं बिना पक्षपात या भेदभाव के सब भगवान को एक मानता हूँ" इसलिये मेरी विशाल भावना बहुत ऊँची है। आपातत: ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह बात अच्छे-अच्छे के गले उतर जाती है। कई लोग इसे स्वीकारने भी लग जाते हैं। परन्तु यह भी कहां तक सही है, यह देखने के लिए पुनः हम गहराई में जाकर परीक्षा करनी पडेगी। एक सीधे-सादे उदाहरण से समझा जाय तो कैसा लगेगा, यह आप सोचना। एक पतिव्रता स्त्री यदि यह कहे कि—"मैं संकुचित वृत्तिवाली नहीं रहना चाहती हूँ, मैं भी उदार भावना एवं विशाल मनोवृत्ति वाली होकर सभी पुरुषों को पति मानना चाहती हूं। सभी पुरुष मेरे पति हैं। अत: मैं किसी एक को ही क्यों मेरा पति मानूं? उदारता से सभी को पति मानती हूँ। आखिर दाम्पत्य जीवन का सांसारिक सुख तो सभी से एक जैसा ही मिलता है। सभी पुरुष एक सरीखे ही है। मात्र नाम भेद से ही भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु देह सादृश्यता से एक जैसे ही हैं। इसलिए संकुचित बंधन छोड़कर सभी को मेरे पति ही मानूं, यह कितनी बड़ीं उदारता है।

सज्जनों! सोचिए क्या आपकी ही पत्नी यदि ऐसा कहे तो चलेगा? क्या आप इस बात को स्वीकार करेंगे? सभा में से उत्तर—"नहीं, नहीं" "यह कभी भी बर्दास्त नहीं होगा"। वह पतिव्रता स्त्री कैसे कहलायेगी? यदि वह सभी को पति मानती है तो वेश्या कहलायेगी। फिर वेश्या और पतिव्रता में अन्तर क्या रहा? यदि हम हजारों वर्षों का इतिहास देखें तो अनेक सतियां एवं महासतियां शुद्ध, एक पतिव्रता धर्म पालकर महान हुई हैं। सभी मेरे पति हैं, ऐसा विचार उन्होंने स्वप्न में भी नहीं किया। व्यवहार में भी कोई ऐस नहीं बोलती है। यदि एक स्त्री पति के विषय में ऐसा नहीं बोल सकती है, तो एक भक्त भगवान के विषय में "सब भगवान एक है' ऐसा बोले, कहां तक उचित है? एक पति के प्रति पातिव्रता धर्म पालकर यदि सती-महासती बन जाती है तो एक भगवान के प्रति शुद्ध श्रद्धा का धर्म पालकर भक्त महान् सम्यक्त्वी बन सकता है। इसलिए आनंदघन जैसे अवधूत योगी महात्मा भी अपने भगवान को प्रीतम-प्रियतम मानकर स्वयं उनकी पत्नी-प्रियतमा भाव से रहकर एक पतिव्रता धर्म की तरह अखंड एवं सचोर श्रद्धा युक्त धर्म से भगवान को कहते हैं कि—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे, भांगे सादि अनंत॥

—हे ऋषभ जिनेश्वर ! तू ही मेरा प्रीतम (भगवान) है, तेरे बिना किसी अन्य को मैं पति (भगवान) नहीं मानता हूँ। इस तरह वीतराग को भगवान मानकर अन्य किसी को भगवान रूप नहीं मानने का शुद्ध सत्य विचार उन्होंने प्रीतम की उपमा की कल्पना से दर्शाया है। इस तरह "सब भगवान एक हैं" "सब धर्म एक है" "सभी आत्मा एक है" इत्यादि मान्यताएं अनभिगृहिक मिथ्यात्वी की है। यह किसी भी रूप में सम्यग् नहीं है। अतः प्रयत्न विशेष से ऐसी मिथ्याधारा दूर करके शुद्ध सम्यक्त्व की मान्यता प्राप्त करना ही लाभदायक है।

३. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—

आभिनिवेश अर्थात् कदाग्रह या हठाग्रह। इस प्रकार के कदाग्रह में यह सत्य और असत्य, तत्त्व और अतत्त्व, धर्म और अधर्म, ईश्वर और अनीश्वर, आदि का स्वरूप यद्यपि मनुष्य जानता है फिर भी वह कदाग्रहपूर्वक अपने हठाग्रह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है। कदाग्रह की बुद्धि के कारण अहंकार आदि के वश होकर, जान बूझकर सत्य का लोप करके, असत्य का ही आग्रह रखता है। उसे आभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहते हैं। असत्य की पकड़ में अहंकार मुख्य काम करता है। आभिग्रहिक मिथ्यात्वी और आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी में अन्तर इतना ही है कि पहला सत्य को न जानते हुए असत्य की पकड़ रखता है, जबकि आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी सिद्धांत का सत्य स्वरूप को जानते हुए भी, सत्य का लोप करके, अभिमान आदि के कारण, कदाग्रहवश असत्य की पकड़ रखता है। शास्त्रों में जैसे गोष्ठामाहिल की बात आती है, वर्तमानकाल में भी कई लोग ऐसे है, जो सिद्धांत का सही स्वरूप जानते हुए भी, साम्प्रदायिक वृत्तियों के वश होकर, अपने पक्ष और गच्छ आदि के वश होकर, असत्य की प्ररूपण करते हैं। उदाहरणार्थ जिनदर्शन-पूजा आदि का आगम शास्त्रों में उल्लेख होते हुए भी व्यवहार में असत्य की प्ररूपणा करना कि "यह सब झूंठ है, गलत है इसमें पाप है।" शास्त्रों में आलू, प्याज आदि कई प्रकार के अनन्तकाय बताए गए हैं, शास्त्र पढ़कर वैसा मानते भी हैं, फिर भी आचार व्यवहार में अभक्ष्य-अनन्तकाय आदि का भक्षण करते हैं। स्वाभिमान—मोह—ममत्ववश होकर, अपनी बात को वापिस ले लेने में अपमान होने या मानखंडित होने का भय लगता है। इसलिए भी असत्य पकड़ मजबूत रखता है। मेरा ही कहा हुआ सत्य है ऐसा कदाग्रह रखता है। जो मेरा कहा हुआ है वही सत्य है, परन्तु जो सत्य है वह मेरा नहीं है। MIGHT IS RIGHT BUT RIGHT IS NOT MIGHT, ऐसी उनकी

मनोवृत्ति रहती है। यह आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी की विचारधारा है, जबकि यह सही नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो यह सत्य है कि—RIGHT IS MIGHT BUT MIGHT MAY NOT BE RIGHT—जो सत्य है वह मेरा जरूर है, परन्तु जो मेरा है वह शायद सत्य न भी हो, यह सम्यक्त्व की सही मान्यता है। परन्तु आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी ठीक इससे विपरीत मान्यता, हठाग्रहवश, रखता है। असत्व की पकड़ रखकर वह जोर-शोर से उसकी विपरीत प्ररूपणा करता है। नया मत निकालने में वह अग्रसर होता है तथा अपने नये मत को निश्चय की तरफ, या एक तरफ ढालने में, और उसकी मजबूत पकड़ रखने में, गौरव मानता है। मरने के अन्तिम क्षण तक भी असत्य को छोड़कर क्षमा याचना करके सत्य स्वीकार करने की उसकी तैयारी नहीं होती है। जमालि आदि जैसे, निह्नव एकदेशीय नयवाद को मुख्यता देने वाले, जिन्होंने भगवान के अनेकान्तिक एवं सापेक्षवाद को ठुकराकर, अपनी एकदेशीय एकान्तिक मान्यता को जबरदस्ती लोगों के दिमाग में ठसाने का प्रयत्न किया, वे भी आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी कहलाए हैं। आभिगृहिक मिथ्यात्व, सर्वज्ञ वीतराग के दर्शन को न पाये हुए अन्यमती को, अपने एकमत के आग्रह वाले को, होता है, जबकि आभिनिवेशिक मिथ्यात्व तो सर्वज्ञ-वीतराग के दर्शन को पाने वाले जीवन में भी हो सकता है, जैसे कि जमालि आदि को था।

जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।
जावइया नयवाया, तावइयं चेव मिच्छत्तं॥

—जितने ही वचन अभिप्राय विशेष है, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने ही नयवाद होते हैं, उतने ही मिथ्यात्व के प्रकार होते हैं। **वक्तुरभिप्रायः विशेषो नयः।** नय का लक्षण इस प्रकार बताया है कि वक्ता अर्थात् बोलने वाले का अभिप्राय, विशेष विचार, नय कहलाता है। नय सभी निरपेक्ष–एकान्तिक होते हैं। एक नय दूसरे नय की अपेक्षा न करता हुआ, स्वतन्त्र चलता है। अतः एक नय मिथ्यात्व कहलाता है। ऐसे जगत में अनेक लोग हैं, अनेकों के अपने-अपने विचार-अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। कहा गया है कि—**"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना:"**। हर मनुष्य की मति भिन्न-भिन्न होती है। जितने दिमाग उतने विचार होते हैं। जितने विचार उतने नय होते हैं। अतः जितने नय उतने सभी मिथ्यात्व होते हैं। अतः एकान्तिक एक नय की पकड़ रखना यह मिथ्यात्व कहलाता है। अन्य सभी नयों का स्वरूप जानता हुआ

भी, यदि उनका सापेक्ष रूप से विचार न करते हुए एकान्त एक नय को पकड़कर ही चलता है, तो वह भी आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी कहलाता है। यह भी अच्छा नहीं है। अतः सभी नयों का समुदित सापेक्षज्ञान करके, उन्हें प्रमाणरूप से स्वीकारने में सम्यक्त्व है।

४. सांशयिक मिथ्यात्व—

इस नाम से ही अर्थ स्पष्ट है कि वह संशय प्रधान वृत्तिवाला है। शंकाशील जीवों को ऐसा सांशयिक मिथ्यात्व होता है। हर बात में शंका मुख्य रूप से रहती है। सर्वज्ञ-केवलज्ञानी भगवान के बताए हुए जीव-अजीव, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, मोक्षादि तत्त्व वास्तव में होंगे भी सही या नहीं? क्या मालुम नहीं भी होंगे? फिर भी सर्वज्ञ भगवान ने लोगों को नरकादिक का भय दिखाकर सुधारने के लिए बता दिये होंगे। शंका की आदत पड़ने के कारण वह यहां तक कुतर्क करने लग जाता है कि महावीरस्वामी भी हुए थे या नहीं? इस बात में क्या प्रमाण है? संभव है शायद मुनि महाराजों ने लोगों को नीति-रीति समझाने के लिए कपोल कल्पित रूप से महावीर स्वामी का मनघडंत एक रूपक चरित्र खड़ा कर दिया होगा? एक युवक ने आकर ऐसा प्रश्न मुझे पूछा। मैंने सोचा यह सांशयिक मिथ्यात्वी जीव है। हर बातों में शंका-संशय रखता है। शंका के कुतर्क खड़े करता रहता है। मैंने ईंट का जवाब पत्थर देने की युक्ति से कुतर्क के सामने दूसरा कुतर्क फेंककर ही दिया। अरे! सुन, ये तेरे पिता हैं इसका तेरे पास क्या प्रमाण है? किस प्रमाण या प्रूफ से तू यह कहता है कि यह मेरे पिता है?

युवक—महाराज! मेरी मम्मी ने मुझे बताया है कि ये तेरे पिता हैं।

मैंने कहा—इसे कैसे सत्य मानें? तेरी मम्मी झूठ नहीं बोलती है इसका क्या प्रमाण है? तेरे पास पक्का ठोस प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है? दूसरों के कहने पर तू यह मानता है। इसमें हम कैसे विश्वास रखें? और यदि मम्मी या पापा के कहने पर तू यह मानने या स्वीकार करने को तैयार है, तो परम्परा से चली आती हुई गुरु-शिष्यों की वंशपरम्परा से महाराज ये कहें कि—"महावीर स्वामी ऐसे थे, उस समय हुए थे, उन्होंने यह कहा था" इत्यादि मानने या स्वीकार करने में तुझे क्या आपत्ति है? इस तरह युवक कान पकड़कर बात स्वीकार करके गया।

ऐसे सांशयिक मिथ्यात्वी जीव, सत्य जानते और मानते हुए. या धर्म करते हुये, भी अपने शंकाशील स्वभाव के कारण भगवान में, गुरु में, धर्म में, धर्म के फल में, तथा तत्त्वों में संशय करते रहते हैं। वे सांशयिक मिथ्यात्वी कहलाते हैं। इस तरह शंका-कुशंका करके अपनी श्रद्धा को वह दूषित करता रहता है और मिथ्यात्व का कलंक लगता रहता है। सम्यक्त्व में भी कदाग्रह-दुराग्रह या पूर्वाग्रहवश होकर शंका कुशंकाएं खड़ी करना, यह सांशयिक मिथ्यात्वी का काम है। सर्वज्ञ वीतरागी भगवान पर पूर्ण सचोट श्रद्धा न होने के कारण उनमें, उनके वचन में, तत्त्व में, धर्म में, धर्मफल में, ऐसी शंकाएं उसके दिमाग में उत्पन्न होती रहती हैं। मन में बार-बार विचार तरंगें उत्पन्न होती ही रहती हैं कि यह सत्य होगा या नहीं ? यह ऐसा होगा या नहीं ? पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु होगी या नहीं ? भगवान हुए थे या नहीं ? स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक होंगे या नहीं ? पुनर्जन्म या पूर्वजन्म होते भी हैं या नहीं ? धर्म करने से कोई फल मिलता होगा या नहीं ? इस तरह सैकड़ों प्रकार की शंकाएं भूत के रूप में उसके सिर पर सवार होती रहती हैं। नीतिकार ठीक ही कहते हैं—**"संशयात्मा विनश्यति–श्रद्धावान् लभते फलम्।"** संशयी-शंकाशील आत्मा विनाश लाती है, नष्ट होती है, नाश की दिशा में जाती है, जबकि श्रद्धावान् जीव फल प्राप्त करता है। यहां एक बात का स्पष्टीकरण करना है कि जिज्ञासा-जानने की बुद्धि से यदि शंका प्रकट की जाय, अभ्यास हेतु, वाद-चर्चा या शंका-समाधान के रूप में यदि जिज्ञासा वृति से, सहजभाव से शंका या प्रश्न किया जाय, यह गलत नहीं हैं, यह मिथ्यात्व नहीं हैं। यह भेद तो पूछने वाले की वृत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। अतः सांशयिक मिथ्यात्व भी घातक होता है, आत्मा का श्रद्धा से अधः पतन कराता है।

५. अनाभोगिक मिथ्यात्व—

एकेन्द्रियादि जीवों को, अज्ञान की प्रधानता के कारण, इस प्रकार का अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है। अनाभोग = अज्ञानता। अज्ञानता के कारण तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा या श्रद्धा के अभाव में विपरीत श्रद्धा ही अनाभोगिक मिथ्यात्व कहलाता है। यहां समझ शक्ति का अभाव ही, मुख्य कारण है। यह एकेन्द्रियादि जीवों में तो होता ही है, और किसी विशेष विषय के अज्ञान के कारण, विपरीत ज्ञान या श्रद्धा वाले मनुष्यों में भी होता है। परन्तु ऐसा अनाभोगिक मिथ्यात्वी मनुष्य आभिग्रहिक और अनाभिग्रहित मिथ्यात्वी की तरह, कदाग्रही की तरह पकड़ नहीं रखता है, परन्तु

सरल होता है। यदि उसे कोई सही ज्ञान समझा दे तो वह भूल सुधार कर समझने के लिए तैयार होता है, क्योंकि आग्रह-कदाग्रह रहित होता है, और यदि कोई उसे विपरीत ही समझा दें, तो वह विपरीत ही पकड़कर रखेगा, परन्तु सही मिलने पर भूल सुधार भी लेगा। निगोदादि एकेन्द्रिय जीव तथा पंचेन्द्रिय जीवों तक अव्यक्त अवस्था में यह मिथ्यात्व पड़ा रहता है। यह समझपूर्वक नहीं, परन्तु समझ शक्ति का विकास ही नहीं हुआ है उसके कारण है। वस्तुविषयक सही ज्ञान के अभाव में अज्ञानता के कारण यह मिथ्यात्व पड़ा रहता है।

अश्रद्धा के दो अर्थ है। १. विपरीत श्रद्धा और २. श्रद्धा का अभाव। पहले के तीन मिथ्यात्व, विपरीत श्रद्धा रूप अश्रद्धा वाले हैं। चौथे सांशयिक मिथ्यात्व में श्रद्धा-अश्रद्धा दोनों का मिश्र भाव रहता है क्योंकि श्रद्धा का अभाव है। पांचवें अनाभोगिक मिथ्यात्व में जीव, जो किसी प्रकार का धर्म या दर्शन पाये ही नहीं है, ऐसे एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय आदि तक के जीवों में, श्रद्धा के अभाव रूप मिथ्यात्व है। इस तरह मिथ्यात्व के उपरोक्त प्रमुख पांच भेद बताए गए हैं। शास्त्रकार महर्षियों ने इस मिथ्यात्व को आत्मा का महा शत्रु बताया है। अनेक कर्म बंध की यह मूल जड़ है। अतः मिथ्यात्व दशा में जीव बड़े भारी कर्मों को बांधता है। अतः मिथ्यात्व से बचने के लिए मिथ्यात्व का स्वरूप, भिन्न-भिन्न प्रकारों से, अनेक रीति से, बताया है, जिसमें दस प्रकार की संज्ञाएं, अभिगृहिक आदि मुख्य पांच भेद, लौकिक-लोकोत्तर भेद से ६ प्रकार का और बताया है, जिसका विवेचन आगे करते हैं।

लौकिक-लोकोत्तर भेद से ६ प्रकार का मिथ्यात्व—

लोक लोकोत्तर भेदे षड्विध, देव-गुरू वली पर्वजी,
शक्ते तिहां लौकिक त्रण आदर, करतां प्रथम निगर्वजी।
लोकोत्तर देव माने नियाणे, गुरू ने लक्षणहीना जी,
पर्वनिष्ठ इहलोकने काजे; माने गुरूपद लीना जी॥

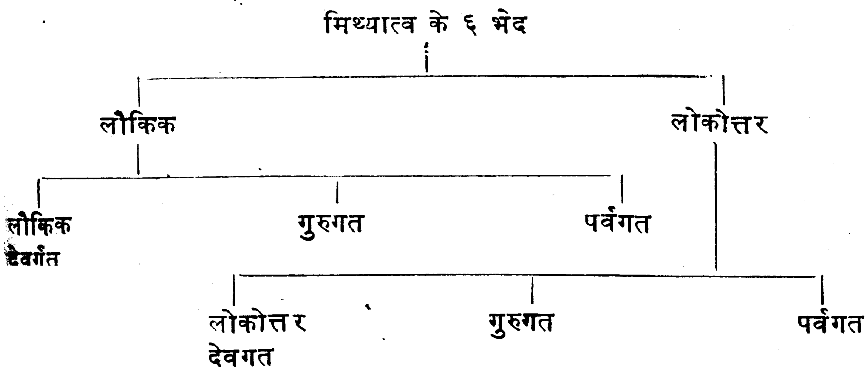

तत्त्व के क्षेत्र में देव-गुरु-एवं धर्म की तत्त्वत्रयी बताई गई है। इस तत्त्वत्रयी में धर्म संबंधी सारा तत्त्व-ज्ञान समाया हुआ है। अतः इन तीन के बाहर धर्म की कोई बात नहीं है। धर्म की समस्त बातें इन तीन में समां जाती हैं। यहां स्पष्टीकरण यह करना है कि—देव तत्त्व से वीतराग भगवान को समझाना है, न कि कोई स्वर्गीय देवगति के देव को। यहां 'देव' शब्द देवाधिदेव शब्द का संक्षिप्त रूप है। शास्त्र में लिखा है कि—

जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजलि नमंसंति।
तं देवदेवमहियं, सिरसा वंदे महावीरं॥

—जो देवताओं के भी देव हैं, जिन्हें देवलोक के देवता भी अंजलीबद्ध नमस्कार करते हैं, तथा देवलोक के देवताओं के स्वामी इन्द्रादि देवों से पूजे गये हैं, ऐसे देवाधिदेव श्री महावीर स्वामी भगवान को सिर झुकाकर वंदना करता हूँ। उपरोक्त गाथा में देवाधिदेव किसे कहते हैं, यह व्याख्या स्पष्ट की है। अतः 'देव' शब्द देवाधिदेव का अन्तिम अर्धांश के रूप में लिया गया है। इससे महावीर स्वामी आदि अरिहंत भगवान देव समझना है। इस तरह देव-सर्वज्ञ वीतरागी, भगवान, गुरु-सर्वज्ञ भगवान के बताये हुए मार्ग पर चलने वाले तथा प्रभु के धर्म का उपदेश एवं आचरण करने वाले गुरु कहलाते हैं तथा सर्वज्ञ भगवान ने जो तत्त्व रूप धर्म बताया है उस धर्म की उपासना तत्त्वत्रयी की शुद्ध सम्यग् साधना कहलाती है। यहां पर लौकिक–लोकोत्तर आदि दृष्टि से देव-गुरु-धर्म की रत्नत्रयी का विचार किया जाना है। जानना-मानना और आचरण करना इन तीनों की दृष्टि से जीवों की सम्यग् एवं मिथ्याधारी दृष्टि रहती है। देव-गुरु-धर्म की तत्त्वत्रयी का स्वरूप अपने रूप में तो यथार्थ–सही ही है, परन्तु उनका स्वरूप जानने वाले हमारे जैसे जीव, जानने के विषय में सही या गलत भी जान सकते है। उसी तरह मानना अर्थात् श्रद्धा रखने के विषय में सही या गलत श्रद्धा भी रख सकते है, उसी तरह आचरण करने के विषय में सही या गलत आचरण भी कर सकते हैं। जो सही आचरण है वह सम्यक्त्व है और जो गलत आचरण है वह मिथ्यात्व है। इस तरह लौकिक एवं लोकोत्तर दृष्टि से देव-गुरु-धर्म की तत्त्वत्रयी की श्रद्धा एवं आचरण करने के क्षेत्र में जो मिथ्या (गलत) पद्धति है, उस मिथ्यात्व के जो ६ भेद होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है।

१. लौकिक देवगत मिथ्यात्व—

देव तत्त्व अर्थात् भगवान के विषय में लौकिक और लोकोत्तर दो भेद होते हैं। सर्वज्ञ-वीतरागी लोकोत्तर कक्षा के देव (भगवान) कहलाते हैं जबकि रागी-द्वेषी अल्पज्ञ-भोगी-वैभवी तथा मोहादि दोषग्रस्त संसारी ऐसे लौकिक कक्षा के देव को भगवान रूप मानना यह लौकिक देवगत मिथ्यात्व कहलाता है।

२. लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व—

इसमें गुरु के विषय की बात है। कंचन-कामिनि के भोगी, संसार के संगी, भोगासक्त एवं भोगलीला या पापलीला में रचे-पचे तथा अनाचारसेवी, कंदमूलादि अभक्ष के भक्षक, तथा उन्मार्गदर्शक ऐसे बाबा, फकीर, जोगी-जोगटा, सन्यासी-तापस, आदि को जो गुरुपद उपयोगी ३६ गुण के धारक नहीं है, उन्हें भी गुरु के रूप में मानना यह इस प्रकार का मिथ्यात्व है।

३. लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व—

धर्माचरण के क्षेत्र में पर्व आदि पवित्र दिनों में जो कर्मक्षयकारक उपासना करनी चाहिए, वह न करते हुए उसका लक्ष्य छोड़कर कुछ और ही करें, या विपरीत ही करें, इससे मिथ्यात्व दोष लगता है—"आत्मानं पुनाति इति पर्व"—जो आत्मा को पवित्र करे वह पर्व कहलाता है। आत्मा पवित्र कब होगी? जब अशुभ कर्म का क्षय होगा तब। अशुभ पाप कर्म का क्षय कब होगा? जब विशेष रूप से पर्व दिनों की उपासना करेगी तब। परन्तु जो लोक में प्रसिद्ध है ऐसे लौकिक त्यौहार है, जिसमें तप-त्यागादि की कर्मक्षयकारक साधना का नाम मात्र भी नहीं है तथा जिसमें सिर्फ खाना-पीना, तथा मनोरंजन का ही एक मात्र उद्देश्य है ऐसे होली आदि पर्व मानना या मनाना यह लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व कहलाता है।

४. लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व—

लोकोत्तर कक्षा के सर्वोत्तम देवाधिदेव वीतराग भगवान जो सर्व दोष रहित हैं, राग-द्वेषादि रहित हैं, स्त्री-शस्त्रादि संबंध रहित हैं ऐसे सर्वज्ञ अरिहंत भगवान को मानकर भी इहलोक के सुख की आकांक्षा, पौद्गलिक सुखों की इच्छा, मुझे अच्छी स्त्री मिले, संतान की प्राप्ति हो, धन-धान्य-सम्पत्ति मिले, सत्ता-पद-प्रतिष्ठा-

यशकीर्ति की प्राप्ति हो, आदि सब प्रकार के सांसारिक सुख मिले इसके लिए प्रार्थना, या स्तुति करना, या भगवान ही यह सब कुछ देने वाले हैं, इस दृष्टि से मानना, या पूजना, या जापना, या मान्यता (मानता) आखड़ी, बाधा रखना। यह लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व कहलाता है। लोकोत्तर कक्षा के देव-गुरु-धर्म तीनों में श्रद्धा या मान्यता जरूर सही है, स्वरूप सही जानता है, परन्तु आराधना या उपासना जिस हेतु से करता है वह गलत मैं है, अतः यह विपरीत भावाचरण रूप मिथ्यात्व है। उदाहरण के रूप में जैसे हलबा पुड़ी आदि बनानी है, आपको हलवा, पुडी के स्वरूप का ज्ञान भी सही हो, परन्तु यदि बनाने की रीति या विधि सुव्यवस्थित नहीं आती है, और जिस किसी तरह यदि एक भगोने में आटा, घी, शक्कर पानी आदि मिलाने पर हलवा नहीं बनेगा, उल्टी बाजी बिगड़ जाएगी, उसी तरह लोकोतर कक्षा के देव-गुरु-धर्म की प्राप्ति आपको जरूर हुई है, परन्तु यदि उपासना-आराधना की रीति या विधि—पद्धति या हेतु सही नहीं है तो विपरीत रीति—हेतु से की गई साधना वह भी मिथ्यात्व पोषक बन जाएगी। इस तरह लोकोत्तर कक्षा के देव-गुरु-धर्म आदि सही होते हुए भी, साधना विपरीत होने के कारण, मिथ्यात्व दोष लग जाएगा।

५. लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व—

उपरोक्त हेतु ही इस भेद में भी है। सिर्फ भेद इतना ही है कि यहां देव के स्थान पर गुरु है। पंचममहाव्रतधारी, संसार के त्यागी, विरक्त वैरागी, त्यागी· तपस्वी, कंचन-कामिनि के त्यागी एवं छत्तीस गुण के धारक साधु-मुनिराजों की मान्यता श्रद्धा एवं ज्ञान तो सही है, परन्तु उपासना की रीति-हेतु विपरीत है। जैसे संसार के त्यागी, वैरागी से संसार के रंग-राग पोषक आशीर्वाद लेना, शादी-सगाई हो जाय, स्त्री-पुत्र-संतान आदि प्राप्त हो, सत्ता-सम्पत्ति-पद-प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति आदि मिले, एवं मैं जेल से छूट जाऊँ, सजा से मुक्त हो जाऊँ, इस केस में जीत जाऊँ, घुड़दौड़ में जीत जाऊँ, संकट से बच जाऊँ, फैक्ट्री-दुकान अच्छी चले आदि के विषय में ऐसी इच्छा या हेतु रखकर गुरु सुश्रुता सेवा, भक्ति आदि करना, सांसारिक सुख भोगों की अपेक्षा से साधु सन्तों को मातना-पूजना या वंदन करना या आशीर्वाद लेना यह सब इस प्रकार की मिथ्यवृत्ति है। अतः इसका त्याग भी हितावह है।

६. लोकोत्तर पवगत मिथ्यात्व—

सर्व श्रेष्ठ कर्मनिर्जराकारक, मोक्ष प्राप्ति के सहायक, ज्ञानपंचमी, मौन एकादशी, पोष-दशमी, आयंबिल ओली, पर्युषण महानपर्व एवं संवत्सरी महापर्व आदि पर्वों की आराधना कर्मक्षय के लिए करनी चाहिए। पर्वों में विशेष रूप से तप-त्याग, व्रत-पच्चक्खाण ज्ञान-दर्शन-चारित्र तपादि से आराधना करनी चाहिए और कर्मक्षय एवं आत्मशुद्धि का ही लक्ष्य रखना चाहिए। यही सम्यग् साधना है। परन्तु ठीक इससे विपरीत हेतु से पर्व को त्यौहार के रूप में मनाना, तप-त्याग के बजाय खा-पीकर मनाना, व्रतपच्चक्खाण के बजाय लोकरंजन या मनोरंजन पूर्वक मनाना, या सन्तान प्राप्ति, शादी, देह सौंदर्य, रूप-स्वरूप आदि अच्छा मिलने की इच्छा से मनाना, स्वर्ग या सुख भोगों की प्राप्ति के लिए मनाना या मानना या मानअभिमान की पुष्टि, पद प्रतिष्ठा, यशकीर्ति की प्राप्ति आदि सांसारिक इच्छाओं एवं आशाओं की पूर्ति के हेतु से महापर्वों का मानना या मनाना यह लोकोत्तर पर्वगत मिथ्यात्व है। यह भी सर्वथा त्याज्य है।

उपरोक्त तीनों लोकोत्तर देव-गुरु एवं धर्म पर्वगत मिथ्यात्व धर्मी आत्माओं को भी लग सकते हैं, यदि वे ऐसी अपेक्षा, आकांक्षा एवं हेतु से करते हों। अतः जैसी देव-गुरु-धर्म की ऊँची श्रेष्ठ लोकोत्तर कक्षा है उनकी उतनी ही श्रेष्ठ ऊँची कक्षा की रीत-विधि एवं कर्मक्षय—आत्मशुद्धि की शुद्ध भावना एवं अच्छे हेतु—लक्ष्य आराधना—उपासना करनी चाहिए। यही सम्यग् मार्ग हैं।

"मिथ्यात्वी जीव—

"विपरीतः भावः मिथ्याभावः—मिथ्यात्व।"

मिथ्या अर्थात् विपरीतवृत्ति या बुद्धि। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीतवृत्ति का भाव। मिथ्या शब्द से भाववाचक अर्थ में मिथ्यात्व शब्द बनाया है। तत्त्व एवं सत्य सिद्धान्त की किसी भी बात को विपरीत ही मानना यह मिथ्यात्व कहलाता है। हमेशा ही मिथ्यावृत्ति एवं मिथ्याबुद्धि के कारण मिथ्यात्वी जीव की दृष्टि भी मिथ्या-विपरीत बन जाती है। अतः उसे मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं। इसकी गंगा हमेशा उल्टी ही चलती है, अर्थात् देखने, जानने, मानने, समझने, आचरण करने आदि क्षेत्र में मिथ्यात्वी जीव हमेशा विपरीतता ही रखता है। तत्त्व एवं सत्य सिद्धांत

आ.श्री. कैलाससागर

विषयक उसका ज्ञान ही अज्ञान रूप में परिणत है, एवं उसकी बुद्धि सदा विपरीत ही चलती है। यहां अज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं। एक तो ज्ञान का अभाव और दूसरा अल्प या नाम मात्र का ज्ञान और वह भी उल्टा। ज्ञान का अभाव लिखने का अर्थ यह है कि–पदार्थ के सही–सम्यग् यथार्थ ज्ञान का अभाव मिथ्यात्वी में होता है। परन्तु ऐसा अर्थ यहां नहीं है कि सर्वथा ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि सर्वथा ज्ञान के अभाव वाला तो अजीव ही होता है, जबकि ज्ञान एक मात्र जीव द्रव्य का गुण है। मिथ्यात्वी भी मूलतः जीव ही है। अतः वह भी ज्ञानगुणवान् तो है परन्तु उसका ज्ञान यथार्थ सम्यग्-ज्ञान से सर्वथा विपरीत ही होता है। अतः वह ज्ञानवान् नहीं अपितु अज्ञानवान् कहलाता है। ऐसी अज्ञानवृत्ति वाला मिथ्यात्वी जीव मुख्यतः नास्तिक ही होता है। आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, पुण्य-पाप, कर्म-धर्म, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, आश्रव-संवर, तथा बंध-मोक्षादि ऐसे तात्त्विक विषयों में मिथ्यात्वी की वृत्ति हमेशा ही निषेधात्मक विपरीत ही रहती है। इन तत्त्वों के विषय में वह न तो सही ज्ञान, जानकारी रखता है, न ही उनमें श्रद्धा-मान्यता रखता है तथा सही दृष्टि से कभी सही आचरण भी नहीं करता है। ऐसे मुख्य ६ पद है, जिनमें वह नकारात्मक दृष्टि अपनाता है।

नास्ति नित्यो, न कर्ता च, न भोक्तात्मा, न निर्वतः।
तदुपायश्च नेत्याहुर्मिथ्यात्वस्य पदानि षट् ॥
[अध्यात्म-सार]

१. आत्मा नहीं है, २. एकान्त नित्य ही है, ३. आत्मा कुछ भी कर्ता-हर्ता नहीं है, ४. आत्मा भोक्ता भी नहीं है, ५. मुक्ति-मोक्ष जैसा कुछ भी नहीं है, ६. मोक्ष प्राप्ति का उपाय-मार्ग-धर्मादि कुछ भी नहीं है। इस तरह इन मुख्य ६ विषयों में मिथ्यात्वी की वृत्ति नकारात्मक ही रहती है। वह पंच महाभूतों के अलावा जन्म-जन्मांतर में जाने-आने वाले आत्मा नामक कोई पदार्थ को नहीं मानता है। उसी तरह आत्मा को कर्म-धर्म का कर्ता-भोक्ता भी नहीं मानता है। इस तरह सर्वथा नास्तिक विचारधारा वाला वह अज्ञानी होता है। अतः संसार के वैषयिक, भौतिक एवं पौद्गलिक सुखों में ही स्वर्ग का सुख मानकर जीता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीव विशेष पाप रुचि वाला होता है। तत्त्वों में न तो उनकी श्रद्धा होती है, और न ही धर्म के आचरण की कोई भावना रहती है। वह मात्र अपने दैहिक-भौतिक सुखों

की इच्छा करता है। बस, इसके सिवाय भगवान, गुरु, धर्म आदि उसके लिए कुछ भी नहीं हैं।

देव-गुरु-धर्म स्वरूप विषयक मिथ्यात्व—

मिथ्यात्वी जीव अपनी अज्ञानपरक मिथ्यावृत्ति के कारण देव-गुरु-धर्म आदि तत्त्वों को नहीं मानता है तथा जैसा स्वरूप देव-गुरु-धर्म का है, ठीक उससे विपरीत ही मिथ्यात्वी मानता है। यह बताते हुए लिखा हैं कि—

अदेवे देव बुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्म बुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्‌विपर्ययात् ॥

जो देव (भगवान) नहीं है, उनमें भगवानपने की बुद्धि, जो त्यागी-तपस्वी गुरु नहीं है, उनमें गुरुपने की बुद्धि, जो धर्म नहीं है ऐसे हिंसादि पापाचार में धर्म-बुद्धि रखना यह अज्ञानपरक विपरीत होने के कारण मिथ्यात्व कहलाता है। जो परम अर्थात् सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च कक्षा की सर्व कर्मरहित, सर्वज्ञ, वीतरागी आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं। उन्हें भी मिख्यात्वी जीव भगवान के रूप में मानने या स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। जिस तरह सुअर मिष्टान्न आदि शुद्ध भोजन को छोड़कर मल-मूत्र ही पसन्द करता है, उसी तरह मिथ्यात्वी जीव भी वीतरागी-सर्वज्ञ अरिहंत को छोड़कर रागी-द्वेषी, संसारी-भोगलीला एवं पापलीला में आसक्त को भगवान के रूप में मानने की विपरीत बुद्धि रखता है।

वैसे ही कंचन-कामिनि के त्यागी विरक्त वैरागी, पंचमहाव्रतधारी, समस्त पाप के त्यागी, मोक्ष मार्ग के उपदेशक ऐसे ३६ गुण सम्पन्न पवित्र साधु-सन्त-मुनिमहात्माओं को गुरु के रूप में न मानता हुआ मिथ्यात्वी जीव अपनी विपरीत वृत्ति एवं अज्ञान दशा के कारण उनसे जोगी-जोगटा; बाबा-फकीर आदि को गुरु के रूप में मानने लगता है, जबकि वे लोभी-धूर्त, विषय-कषाय के कामी, कंचन-कामिनि के संगी, भोग एवं पापलीला के रागी, व्रत-महाव्रत रहित ऐसे बहूलाकर्मी मिथ्यात्वी गुरु के रूप में मानने की वृत्ति रखता है।

मिथ्यात्वी जीव धर्म के विषय में भी श्रद्धा नहीं रखता है, परन्तु ठीक इससे विपरीत वह अधर्म में रुचि रखता हैं। धर्म से विपरीत अधर्म तो पाप ही कहलाता है। फिर भी मिथ्यादृष्टि जीव अधर्म-पाप में रुचि रखता है। वह अधर्म या पापा-

चार को ही धर्म मानकर चलता है। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा दया-दान-शीथल-भाव, तप-तपश्चर्या, यमनियम, संयम-व्रत, महाव्रत, पच्चक्खाण विरती, भक्ति आदि धर्म के किसी भी प्रकार में श्रद्धा या रुचि नहीं रखता है, क्योंकि धर्म से आत्मा का कल्याण होता है, या मोक्ष होता है ऐसी बात वह नहीं मानता है, क्योंकि मूलत: आत्मा या मोक्षादि को ही नहीं मानता है, फिर आत्मा के कल्याण या मोक्ष की बात ही कहां रही? अत: वह व्रत-महाव्रत से विपरीत मौज-शोक में एवं तप-तपश्चर्या से विपरीत खान-पान में, यम'नियम संयम से विपरीत-हिंसा झूठ-चोरी आदि में, ब्रह्मचर्य से विपरीत, रंग-राग में एवं भोगादि में मस्त रहना, ऐसा विपरीत रूप मानता है।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेणा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥

वह मानता है कि मदिरापान–शराब पीने में कोई दोष नहीं है, न मांस खाने में दोष है, नजूआं खेलने में दोष है और नही मैथुन सेवन करने में पाप है, इसलिए जब तक जीना है, सुख पूर्वक जीना है, चाहे सिर पर कर्ज करके घी पीकर भी जीना पड़े। इस तरह मिथ्यात्वी जीव किसी में पाप मानने को तैयार नहीं है। वह ऋण-कर्ज बढ़ाकर भी घी पीने के लिए तैयार है। उसी तरह पापों का सेवन करके भी सुख से जीने के लिए तैयार है। मिथ्यात्वी की ऐसी विपरीत अज्ञानवृत्ति एवं पापबुद्धि उसके आचार-विचार और व्यवहार में हमेशा ही स्पष्ट दिखाई देती है। इस तरह मिथ्यात्वी जीव ज्ञान एवं श्रद्धा के विषय में तथा चरित्र (आचार क्रिया) के विषय में, विपरीत मिथ्यावृत्ति वाला ही रहता है।

मिथ्यात्व और अज्ञान

मिथ्यादर्शन का लक्षण--"**अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरूपत्वं मिथ्यादर्शनस्य लक्षणम्**" अतत्त्व अर्थात् जो पदार्थ तत्त्व रूप नहीं है, उनमें तत्त्वपने की बुद्धि रखना यह मिथ्यादर्शन कहलाता है। यहां दर्शन शब्द दृष्टि अर्थात् देखने के अर्थ में प्रयुक्त है, इसलिए मिथ्यात्वी को देखने की वृत्ति या दृष्टि हमेशा ही विपरीत रहती है। अत: वह अतत्त्व में तत्त्व देखने की कोशिश करता है, क्योंकि उसकी ऐसी मिथ्याबुद्धि अज्ञानता के कारण रहती है। अज्ञान का लक्षण करते हुए बताया है कि— **मिथ्यात्वमोहोदये सति अतत्त्वज्ञानरूपत्वमज्ञानस्य लक्षणम्**। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म

के उदय के कारण उत्पन्न हुए अतत्त्वज्ञान को अज्ञान कहा जाता है अर्थात् जो वस्तु स्वरूप पदार्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं है, उसे अज्ञान कहते है। इस तरह विचार किया जाय तो अज्ञान और मिथ्यात्व में कोई विशेष अन्तर नहीं है, करीब-करीब दोनों ही एक दूसरे के अर्थ में समानार्थक हैं। अत: मिथ्यात्वी-अज्ञानी कहलाता है। अज्ञानी दो प्रकार के होते हैं एक तो वह जो वस्तु तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से सर्वथा विपरीत बुद्धि वाला है, और दूसरा वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाला है। जो तत्त्व का स्वरूप जानता ही नहीं है ऐसा अज्ञानी। इस तरह एक विपरीत ज्ञान वाला और दूसरा ज्ञान के अभाव वाला, अज्ञानी होता है। एक तर्क इस बात को और स्पष्ट करने के लिए पूछा जाता है कि जो-जो मिथ्यात्वी होता है वह अज्ञानी होता है? या जो जो अज्ञानी होता है वह मिथ्यात्वी होता हैं? जैसे धुएं और अग्नि का तर्क होता है वैसे ही यह भी एक तर्क है। जहां जहां धुआं होता है, वहां वहां अग्नि होती है या जहां अग्नि रहती है, वहां धुआं होता है? यहां धुएं का अग्नि के साथ अविनाभाव संबंध है। अतः कार्य-कारण भाव की दृष्टि से सत्य यह है कि जहां भी धुंआ रहेगा वहां अग्नि अवश्य ही होगी। परन्तु जहां अग्नि होगी वहां धुंआ रहेगा या न भी रहेगा, जैसे तपे हुए लोहे के गोले में अग्नि जरूर रहती है, परन्तु वहां धुंआ नही होता है। ठीक इस आधार पर समझो कि जहां जहां मिथ्यात्व होता है वहां अज्ञान अवश्य ही होता है। परन्तु जहां अज्ञान होगा वहां मिथ्यात्व हो या न भी हो, क्योंकि मिथ्यात्व का अज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। ज्ञान के विपरीत भाव रूप अज्ञान के साथ मिथ्यात्व अवश्य ही रहेगा, परन्तु एक विषयक ज्ञान के अभाव रूप अज्ञान या अल्प ज्ञान रूप अज्ञान के साथ मिथ्यात्व नहीं रहेगा। अत: मिथ्यात्वी अवश्य अज्ञानी कहलाएगा, परन्तु अज्ञानी मिथ्यात्वी नहीं भी कहलाएगा। अल्पज्ञानी या ज्ञान के अभाव रूप अज्ञानी के अज्ञान की निवृत्ति शीघ्र ही हो जाएगी, परन्तु विपरीत ज्ञान वाले अज्ञानी (मिथ्यात्वी) के अज्ञान की निवृत्ति शीघ्र होना सम्भव नहीं हैं। अत: मिथ्यात्वी अच्छा या अज्ञानी अच्छा? यह प्रश्न कोई पूछे तो हम मिथ्यात्वी को भूल से भी कभी अच्छा नहीं कह सकते हैं, परन्तु एक दृष्टि विशेष से, अल्पज्ञानी या विषय के अभाव रूप अज्ञानी को, थोड़ी देर के लिए, अच्छा जरूर कह सकते हैं। ऐसा अज्ञानी जल्दी समझ जाएगा। ज्ञान को स्वीकार कर लेगा, परन्तु मिथ्यात्वी-विपरीतज्ञानी-अज्ञानी लाख प्रयत्न के बावजूद भी समझेगा या नहीं यह शंकास्पद है। इस तरह मिथ्यात्वी और अज्ञानी में कुछ तात्त्विक भेद है।

मिथ्यात्व का लक्षण–मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचित्यविशेषात्मपरिणाम-विशेषरूपत्वं मिथ्यात्वस्य लक्षणम् ।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के पुद्गल की प्रधानता के कारण आत्मा का जो परिणामविशेष उत्पन्न होता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं । अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्वमोहनीय कर्म प्रकृति के उदय से आत्मा के विपरीतज्ञान-अज्ञानरूप जो मिथ्या परिणाम उत्पन्न होते हैं उसे मिथ्यात्व कहते हैं । इसे ही, संक्षिप्तरूप से, सरल शब्दों में, इस तरह कह सकते हैं कि सर्वज्ञ प्ररूपित तत्त्व के विषय में श्रद्धा के अभावरूप जो विपरीतज्ञान-अज्ञानवृत्ति होती हैं उसे मिथ्यात्व कहते हैं अर्थात् तत्त्व के यथार्थ स्वरूप के विपरीत ज्ञानरूप अज्ञान को मिथ्यात्व कहते हैं ।

२१ रूप से मिथ्यात्व—

शास्त्रों में मिथ्यात्व को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विस्तृत विचार किया गया है । यद्यपि मिथ्यात्व अपने अर्थ में विपरीत मिथ्या भाव वाला ही है, तथापि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भेद किये गये हैं; जिसमें प्रमुख रूप से, मिथ्यात्व के १० संज्ञाएं, स्वरूपगत पांच भेद, एवं लौकिक-लोकोत्तर दृष्टि से देव-गुरु-धर्मगत ६ प्रकार का मिथ्यात्व है । ये कुल मिलाकर २१ प्रकार बनते हैं ।

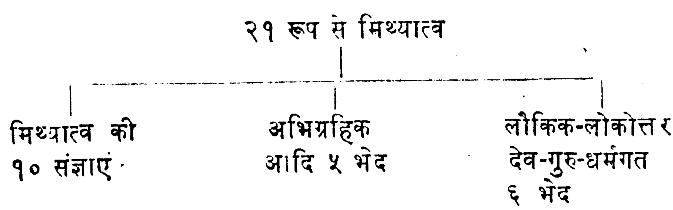

उपरोक्त २१ प्रकार के मिथ्यात्व का विस्तृत स्वरूप जानकर या समझकर उनमें बचने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व पापरूप है एवं कर्मबंध का कारण है, अनन्त संसार में परिभ्रमण का मुख्य कारण है, आत्मगुण घातक है एवं विपरीतज्ञान तथा अज्ञान की जड़ है । अतः इससे सर्वथा बचना ही लाभदायक है ।

मिथ्यात्व को पापस्थानक क्यों कहा ?

शास्त्रों में मुख्यतः १८ पापस्थानक बताए गये हैं । इनमें अठारहवां मिथ्यात्वशल्य है । यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मिथ्यात्व को पापस्थानक

क्यों कहा ? प्रश्न भले ही आश्चर्यकारी हो लेकिन वास्तविकता में उतनी सच्चाई है। पहले तो हम यह सोचें कि पाप क्या है ? पाप क्यों और कैसे बनते हैं ? पाप से कर्म कैसे बंधता है ? तथा पाप का विपाक कैसा होता है ? यद्यपि इस विषय में तीसरी पुस्तक में विचार किया है, फिर भी प्रस्तुत अधिकार में संक्षेप में कुछ और सोच लेते हैं। जीव मन-वचन-काया के द्वारा प्रवृत्तियाँ करता रहता है। १. मन से सोचना विचारना २. वचन से बोलना आदि वाग्व्यवहार तथा ३. काया (शरीर) से शारीरिक प्रवृत्ति खाना-पीना-सोना-उठना-बैठना, चलना-फिरना, आना-जाना, देखना-सुनना आदि प्रवृत्तियाँ करता रहता हैं। उपरोक्त मन-वचन-काया के तीनों तरीकों से जो भी प्रवृत्तियाँ होती है वह मात्र दो ही प्रकार की होती हैं अच्छी या बुरी। अच्छी को दूसरी भाषा में शुभ तथा बुरी को अशुभ कहते हैं। इन्हीं को शास्त्र की भाषा में पुण्य और पाप के नाम दिये जाते हैं। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में पूज्य उमास्वामी म. ने **"शुभः पुण्यस्य" "अशुभः पापस्य"** इस सूत्र में स्पष्ट किया है। जीव मन से जो भी कुछ सोचता-विचारता है तथा वचन योग से जो भाषा का व्यवहार करता है एवं काया और इन्द्रिय से खाने-पीने, देखने-सुनने आदि की जो क्रिया करता है उनमें शुभ-अशुभ, अच्छी-बुरी, या पुण्य-पाप की ही मुख्य दो प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं। शुभ-अच्छी प्रवृत्ति से पुण्योपार्जन होता है; और अशुभ-खराब प्रवृत्ति से पाप का उपार्जन होता है। ८२ प्रकार के कारण जिन कार्मण-वर्गणा के पुद्‌गल परमाणुओं का आत्मा में आश्रव (आगमन) होता है, तथा आत्मसात् होकर जो कर्म पिण्ड बनता है, उसे कर्म कहते हैं। इस तरह पाप-कर्म (क्या है और कैसे बनते हैं) की प्रक्रिया है।

मिथ्यात्व को पापस्थानक इसलिए कहते हैं कि इसमें मन के द्वारा तत्त्वादि के विषय में जो कुछ सोचा विचारा जाता है वह वास्तविक सत्य से विपरीत ही होता है, एवं अश्रद्धा तथा अज्ञानरूप होता है। उसी तरह जैसा विचारता है वैसा व्यवहार में बोलता-चालता है। अतः इस प्रकार की मन-वचन-काया की विपरीत-मिथ्या प्रवृत्ति पाप-कर्म बंधाने में कारण बनती है। मिथ्यात्व को अव्वल नम्बर का कर्मबंध का मुख्य हेतु गिना है। उमास्वाति म. ने तत्त्वार्थ में बताया है कि—

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः —मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच मुख्य रूप से कर्मबंध के हेतु है। इनमें सबसे पहला बंध हेतु मिथ्यात्व को बताया गया है। मिथ्यात्व आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का

अवरोधक है। अतः इसे अच्छा कैसे कह सकते हैं ? जो आत्मा को विपरीतज्ञान-अज्ञान-अश्रद्धा में रखे उसे अशुभ-पाप न कहें तो पुण्यरूप शुभ कैसे कह सकते हैं ? जब शुभ नहीं है तब अशुभरूप यह मिथ्यात्व पाप ही कहलायेगा। जो आत्मा को अनेक प्रकार के भारी कर्म बंधाता है, जिस मिथ्यात्व में कर्म बंध की स्थितियां उत्कृष्ट कक्षा की पड़ती हैं, जो आत्मा का विकास होने ही न दे, तथा जो आत्मा को संचारचक्र में दीर्घकाल तक परिभ्रमण कराता रहे, ऐसे मिथ्यात्व को किसी भी रूप में अच्छा कहना यह बड़ी भारी मूर्खता होगी। अतः इसे आत्मा का पहले नम्बर का खतरनाक शत्रु रूप पाप-कर्म कहा गया है।

जहर (विष) को कैसे अच्छा कहें ? विषैले साँप को कैसे अच्छा मानें ? वेश्या को कैसे अच्छी मान सकते हैं। विष प्राणघातक है। इसके सेवन से मृत्यु हो जाती है। मृत्यु बड़ी दुःखदायी होती है। जहरीला साँप भी बड़ा खतरनाक होता है। उसके काटने से भी मौत की सम्भावना रहती है। अतः जहरीले साँप को यमराज समझकर लोग डरते हैं। वैश्या भी एक प्रकार का सामाजिक दूषण है। सन्निष्ठ सदाचारी सज्जन इसे चरित्रघातक एवं जीवन कलंकी मानकर इसे अस्पृश्य समझता हुआ बचकर रहता है। इस दृष्टिकोण से सोचने पर यह स्पष्ट लगता है कि—जहर, सांप और वैश्या आदि किसी को भी अच्छा नहीं कह सकते। वे अनर्थकारी हैं। जैसे हम इनसे बचकर रहते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व भी आत्मगुणघातक हैं। जहर, सांप और वैश्या से जितना नुकसान नहीं होगा, शायद उससे भी अनेक गुना नुकसान मिथ्यात्व से होता है। साँप के काटने से, या जहर से सम्भव हैं कि एक ही बार मौत होगी, परन्तु मिथ्यात्व के कारण अनेक बार मरकर जीव को नरक आदि गति में जाना पड़ता है। मिथ्यात्व आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करता है, तथा आत्मा की ज्ञान-स्वभावी दशा को कुण्ठित करता है। ज्ञान आत्मा का मूलभूत गुण है। जिस ज्ञान से आत्मा समस्त व्यवहार करती थी, उस ज्ञानदशा को मिथ्यात्व सर्वथा विपरीत ही कर देता है। परिणाम स्वरूप आत्मा अज्ञान के घेरे में फंसकर समस्त प्रवृत्ति एवं व्यवहार भ्रममूलक विपरीत करती है। जैसे अन्धेरे में पड़ी हुई टेढी-मेढी रस्सी को भ्रमवश साँप मानकर रोना, चिल्लाना, दौड़ना भागना आदि क्रिया करता है, या कभी ठीक उल्टा साँप को भ्रमवश रस्सी मानकर पकड़ने जाता है और मौत के मूँह में गिरता है, ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव की भ्रममूलक संदेहास्पद विपर्यय–विपरीत ज्ञानजनक जानकारी, मान्यता, प्रवृत्ति होती

है। अतः मिथ्यात्वी यथार्थ सत्य को विपरीत असत्य मानता है, और असत्य को भ्रमवश सत्य मानता है। ऐसे मिथ्यात्व को शुभ या अच्छा कैसे कहें? एक शराबी शराब के नशे में चकचूर होकर माता, पत्नि, पुत्री, बहन, बेटी, भाभी आदि परिवारजनों के साथ अंट-संट बोलता हुआ असभ्य, अश्लील आदि विपरीत व्यवहार करता है। ऐसी शराब एवं शराबी को कौन भला-अच्छा मानेगा? मिथ्यात्व भी ठीक शराब के जैसा ही विकृतिकारक है। शराब का नशा तो शायद एक-दो दिन रहता होगा, परन्तु मिथ्यात्व का नशा अज्ञान एवं अश्रद्धा के रूप में जन्मों जन्म तक रहता है। ठीक शराबी की तरह मिथ्यात्वी जीव को अजीव, अजीव को जीव, आत्मा को अनात्मा, मन, इन्द्रियों आदि को आत्मा मानता है, पुण्य को पापरूप और पाप को पुण्यरूप मानता है, धर्म को अधर्म रूप और अधर्म को धर्म रूप मानता है, जो स्वर्ग नरक है उसे न मानकर यहां पर ही सुख-दुःख की चरमावस्था में ही स्वर्ग नरक मानता है, लोक-परलोक कुछ भी न मानता हुआ जो कुछ है वह यही है ऐसा मानता है, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म कुछ भी नहीं है, इस मान्यता के आधार पर चलता हुआ खा-पीकर मौज में मस्त रहना, बंध-मोक्षादि तथा आत्मा-परमात्मा आदि किसी भी तत्त्व में श्रद्धा न रखता हुआ विषय-वासना के वैषयिक भौतिक एवं पौद्गलिक सुखों में लीन रहना चाहता है, कर्म-धर्म को कुछ न मानता हुआ, आत्म कल्याण की बात को सर्वथा न सोचता हुआ मात्र शरीर की ही चिन्ता में लगा रहता है, पुद्गलानंदी और देहानंदी बनकर वह जीवनभर पाप करता रहता है, परन्तु जैसे जहर जानकर या अनजान सभी के ऊपर समान असर करता है, वैसे ही पाप-कर्म सभी के जीवन में समानरूप से उदय में आते हैं। मिथ्यात्वी जीव दुःखों के सामने त्राहीमाम पुकार उठता हैं। अतः महापुरुषों ने मिथ्यात्व को पाप ही नहीं परन्तु सभी पापों में सबसे बड़ा महापाप कहा है। ऐसा महापाप सर्वथा हेय-त्याज्य एवं अनाचरणीय होता हैं। अतः हमें इससे बचना ही चाहिए।

भव्य (भवी) अभव्य (अभवी) जीव—

जिस मिथ्यात्व के विषय में इस प्रकार की चर्चा की जा रही है, उस मिथ्यात्व का अधिकारी कौन है? यह मिथ्यात्व किसमें होता है? इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट ही दिखाई देता है कि मिथ्यात्व मानसिक वैचारिक एवं अश्रद्धारूप कर्मजन्य स्थिति है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व अजीव को नहीं परन्तु जीव को ही होता है। अजीव ज्ञान-दर्शनादि चेतनादि रहित

निर्जीव पदार्थ है। अतः वह मिथ्यात्व का अधिकारी नहीं है। यद्यपि मिथ्यात्व अज्ञानमूलक हैं तथापि ज्ञान के अभावरूप नहीं है परन्तु विपरीत ज्ञानरूप अज्ञान है अजीव पुद्‌गलादि पदार्थ मूलतः ज्ञानादिमान ही नहीं है। अतः अजीव का सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी होने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। ज्ञान-दर्शनादि चेतनावान जीव द्रव्य ही मिथ्यात्व या सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। अतः मिथ्यात्वादि जीव विपाकी कर्म प्रकृत्ति है। मिथ्यात्व का अधिकारी जीव होता है।

संसार में जीव भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में बताए सूत्रानुसार — **जीव-भव्या-भव्यत्वादीनि च ॥२–७॥** जीव मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। १. भव्य और २. अभव्य। भव्य और अभव्यपना यह जीव का परिमाणिक भाव है।

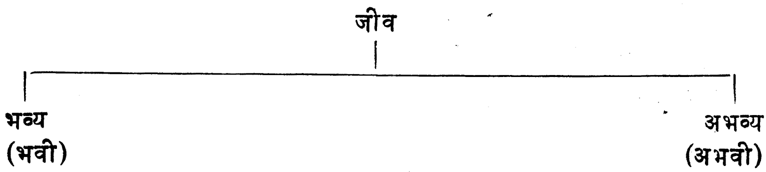

भवी का लक्षण→ सिद्धिगमनयोग्यत्वं भव्यस्य लक्षणम्। मोक्ष में जाने की योग्यता जिसमें पड़ी है वैसा जीव भवी या भव्य कहलाता है। भव्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता वाला जीव। मोक्ष प्राप्ति योग्य-उपयोगी साधन सामग्री मिलने पर जो जीव मोक्ष प्राप्त कर सके उसे भवी-भव्य जीव कहते हैं। **अभवी का लक्षण→ सिद्धिगमनायोग्यत्वं अभव्यस्य लक्षणम्।** जिस जीव में मोक्ष में जाने की योग्यता ही नहीं है वह अभव्य-अभवी जीव कहलाता है। मोक्ष के लिए अयोग्य जीव अभवी जीव है। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की सभी साधन-सामग्रियां प्राप्त होने के बावजूद भी जो कभी भी मोक्ष न पा सके और न ही मोक्ष प्राप्ति की इच्छा हो वह अभव्य जीव कहलाता है। जीवत्व की दृष्टि से दोनों प्रकार के जीव समान होते हुए भी मोक्षगमन की योग्यता और अयोग्यता के कारण जीव में भव्य और अभव्य दो भेद होते हैं। समझने के लिए उदाहरण है कि — गाय-भैंस का दूध और आकड़े के वृक्ष का दूध दोनों ही दूध की दृष्टि से तो समान ही दिखाई देते हैं, लेकिन दोनों में भेद बहुत बड़ा है। गाय-भैंस का दूध जमा सकते हैं, उसमें से दही, मक्खन, घी आदि बना सकते हैं. परन्तु आकडे के वृक्ष के दूध में से दही, मक्खन, घी आदि

ानने सम्भव ही नहीं हैं। ठीक वैसे ही जीवत्व की दृष्टि से सभी जीव समान होते हुए भी मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता और योग्यता के कारण जीवों के दो भेद होते हैं। गाय-भैंस के दूध की तरह भव्य जीव में मोक्षप्राप्ति की योग्यता पड़ी है, जबकि आकड़े के वृक्ष की तरह अभवी जीव में मोक्ष प्राप्ति रूप योग्यता की सम्भावना ही नहीं है।

भव्य जीव में भी जाति भव्य या दुर्भव्य प्रकार के जीव भी होते हैं। इस तरह भव्य, अभव्य और दुर्भव्य भेद से मूलतः जीव तीन प्रकार के होते हैं। जाति भव्य जीव यद्यपि भव्य की जाति का ही है, उसमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता पड़ी है, परन्तु उसे मोक्ष प्राप्ति की साधन-सामग्री कभी उपलब्ध ही नहीं होती है। अतः मोक्ष प्राप्ति की योग्यता होते हुए भी वह कभी भी मोक्ष में न जा सके उसे दुर्भव्य या जाति भव्य कहते हैं। इन भेदों को समझाने के लिए स्त्री का उदाहरण उपयोगी सिद्ध होगा। जैसे तीन प्रकार की स्त्रियां होती है। १. जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता होती है। २. जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता ही नहीं हैं। अर्थात् जो वंध्या है। ३. जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता होते हुए भी जो सन्यास-दीक्षा लेकर साध्वी बन चुकी है।

१. पहली स्त्री के समान भवी जीव कहलाता है। जैसे प्रथम प्रकार की स्त्री में अवंध्यत्व अर्थात् पुत्र को जन्म देने की योग्यता होती है। शादी होने पर पति संयोग आदि की सामग्री मिलने पर वह भविष्य में पुत्र को जन्म दे सकती है। ठीक वैसे है भव्य जीव में मोक्ष प्राप्त करने को योग्यता है। मोक्ष प्राप्त योग्य सर्व साधन-सामग्रियां उपलब्ध होने पर जो मोक्ष प्राप्ति कर सकता है उसे भव्य जीव कहते हैं।

२. वंध्या स्त्री जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता मूलतः ही नहीं है, उसे भले ही शादी, पति संयोग आदि सामग्री उपलब्ध होने पर भी वह कदापि पुत्र को जन्म नहीं दे सकती है। ठीक वैसा ही अभवी जीव होता है, जिसमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता मूलतः ही नहीं है। अतः भले ही मोक्ष प्राप्ति योग्य साधन-सामग्री कितनी भी प्राप्त हो, परन्तु वह कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। अर्थात् अभवी के लिए मोक्ष प्राप्ति असंभव हो है।

३. तीसरे प्रकार की स्त्री जो शादी के पूर्व कन्यावस्था में ही संसार से विरक्त-वैरागी होकर दीक्षा लेकर साध्वी बन जाती है, उसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता यद्यपि है, परन्तु दीक्षित साध्वी होने के कारण शादी-पति संयोग आदि सामग्रियां कभी भी प्राप्त हो ही नहीं सकती है। अतः पुत्र को जन्म देने की योग्यता होते हुए भी पुत्र को जन्म दे ही नहीं सकती है। ठीक ऐसा ही जाति भव्य या दुर्भव्य जीव होता है। भव्य की जाति का होने के कारण इसे जाति भव्य कहते हैं। इसमें यद्यपि मोक्ष प्राप्ति की योग्यता जरूर पड़ी है, परन्तु मोक्ष प्राप्ति योग्य साधन-सामग्रियां कभी भी नहीं प्राप्त होती हैं, अतः योग्यता होते हुए भी कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।

जैसे मूंग में दो प्रकार होते हैं। एक मूंग जल्दी पक जाता है और दूसरा कोरड़े जाति का मूंग जिसे कितने ही घंटों तक चूल्हे पर पानी में चढ़ाया जाए फिर भी नहीं पकता है। अग्नि, ताप, पानी आदि साधन-सामग्रियां प्राप्त होने पर भी जो कभी भी नहीं परिपक्व होता है, उसी तरह भव्य और अभव्य जीव होते हैं। भव्य जीव पकने वाले मूंग के जैसा होता है, और अभव्य जीव कोरडें मूंग के जैसा होता है।

भव्य-अभव्य जीव की परीक्षा—

शास्त्र में अभवी के विषय में कहा है कि—वह सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल शत्रुंजय के दर्शन भी नहीं कर पाता है।

"पाप अभवि न नजरे देखे, हिंसक पण उद्धरिये।"

—अर्थात् अभवी जीव सिद्धक्षेत्र-शत्रुंजय को देखने, मानने एवं श्रद्धा का विषय बनाने के लिए तैयार नहीं होता है, यद्यपि यह भूमि सिद्ध-मुक्त होने की भूमि है। यहां से अनेक आत्माएं मुक्त होकर मोक्ष में गई है, और भविष्य में भी जाती रहेंगी। अभवी जीव मोक्ष एवं मोक्ष प्राप्ति के उपाय तथा मोक्षमार्ग आदि कुछ भी मानने एवं स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं है। अतः मोक्ष प्राप्ति की भूमि सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल को वह दृष्टिगोचर भी नहीं कर पाता है। इसका अधिकारी शास्त्रकारों ने भव्य जीव को ही बतया है। अतः सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल की यात्रा एवं दर्शनादि से भव्यपने या भवी की मुहर लगती है। अतः भवी जीव ही सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल की यात्रा एवं दर्शनादि कर पाता है।

अब यहां प्रश्न उठता है कि हम स्वयं भवी है या अभवी जीव हैं ? इसकी परीक्षा कैसे करें ? हमें स्वानुभूति कैसे हो कि हम भवी हैं या अभवी ? इसका उत्तर स्पष्ट ही है कि जिस कारण से भव्य-अभव्य के भेद पड़े हैं, उसी कारण या लक्षण को हम अपने में देखने की कोशिश करें। अर्थात् आत्मनिरीक्षण करते हुए हम स्व आत्मा को पूछें कि तुझे मोक्ष के विषय में श्रद्धा है या नहीं ? हे जीव ! तू मोक्षतत्त्व को मानने या स्वीकार करने के लिए तैयार है या नहीं ? यदि इनके उत्तर में आत्मा मोक्षतत्त्व के विषय में स्वीकृति प्रदान करें तो निश्चित ही समझना चाहिए कि मैं भव्य जीव हूं। मानों भले ही एक क्षण के लिए भवी जीव मोक्ष-श्रद्धा के लिए तैयार न भी हो, परन्तु मोक्ष के अस्तित्व को स्वीकारने में नहीं हिचकिचाएगा। यदि भवी होते हुए भी सम्यक्त्वी होगा तो (सम्यग्दर्शन प्राप्त किया हुआ) वह मोक्ष, मोक्षमार्ग, मोक्षप्राप्ति के उपाय एवं आत्मा या मोक्षादि सभी तत्त्व अवश्य स्वीकार करेगा, अन्यथा नहीं, क्योंकि भवीजीव में भी मिथ्यात्वी–सम्यक्त्वी आदि के भेद पड़ते हैं।

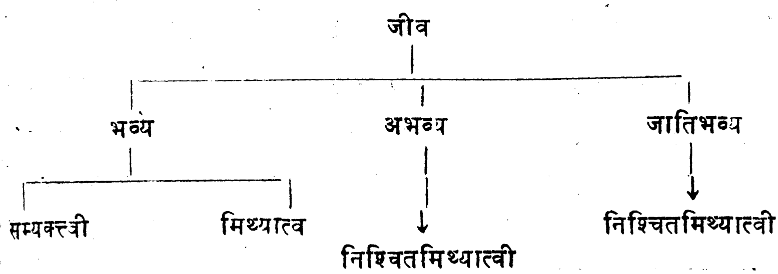

भव्य-अभव्य जीव में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व—

उपरोक्त तालिका के अनुसार तर्क-युक्ति पूर्वक इस तरह विचार कर सकते हैं—जो अभव्य होता है वह मिथ्यात्वी होता है या जो मिथ्यात्वी होता है वह अभव्य होता है। इस प्रकार के तर्क युक्ति पूर्ण वाक्य सत्य की सूक्ष्मता को स्पष्ट करते हैं। धुएं और अग्नि के तर्क की तरह यहाँ भी तर्क का स्वरूप ऐसा ही है। अतः उत्तर स्पष्ट ही है कि जो अभवी होता है वह निश्चित मिथ्यात्वी ही होता है, क्योंकि अभवी जीव अनन्तकाल में भी कदापि, कभी भी सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) या मोक्षादि तत्त्व विषयक-श्रद्धा को प्राप्त नहीं करता है। अतः अभव्य जीव अनन्त काल तक एवं तीनों काल में सदा निश्चित मिथ्यात्वी ही रहता है, लेकिन सभी मिथ्यात्वी जीव अभव्य नहीं होते हैं, क्योंकि भव्यजीव भी मिथ्यात्वी होता है। ठीक

उसी तरह जाति भव्य जीव भी तीनों काल में निश्चित ही मिथ्यात्वी रहता है। यद्यपि वह भव्य की जाति का है फिर भी उसे मोक्षप्राप्ति योग्य सामग्री का मिलना असम्भव ही है, अतः कदापि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पाता है।

क्या जो भव्य होता है वह मिथ्यात्वी होता है या जो मिथ्यात्वी होता है वह भव्य जीव होता है। पहले की भांति इसका उत्तर नहीं मिलता है। इसमें दोनों ही पक्ष एक-दूसरे के अनुपूरक हैं, अर्थात् जो भव्य होता है वह मिथ्यात्वी भी होता है और जो मिथ्यात्वी होता है वह भव्य भी होता है, क्योंकि मिथ्यात्व का भव्य के साथ निश्चित होना अनिवार्य नहीं है। होता भी है और नहीं भी होता है। मोक्ष प्राप्तियोग्य साधन-सामग्रियाँ उपलब्ध होने पर भव्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है। सम्यक्त्व की उपस्थिति में मिथ्यात्व नहीं रहता है। इस तरह जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता तब तक भव्य जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। परन्तु अभव्य नहीं। मिथ्यात्व के नष्ट होने के कारण जीव सम्यक्त्वी कहलाता है। इस तरह भव्य जीव दो प्रकार के होते हैं

१. सम्यक्त्वी भव्य, और २. मिथ्यात्वी भव्य। अभव्य जीव अनादि अनन्त त्रैकालिक मिथ्यात्व वाला ही होता है जबकि भव्य जीव अनादि सांत मिथ्यात्व वाला होता है। भव्य जीव के मिथ्यात्व का काल भूतकाल में अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं है। सांत है। एक दिन उस मिथ्यात्व का नाश होता है और भव्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है, जबकि अभव्य के लिए सम्यक्त्व का प्रश्न अनन्त में भी खड़ा नहीं होता है।

मोक्ष का अधिकारी कौन ? भव्य या सम्यक्त्वी ?

मोक्ष विषयक निमित्त को लेकर ही भव्य और अभव्य जीव का भेद लक्षण बनता है। अतः भव्य और अभव्य जीव में यह स्पष्ट हो ही गया है कि—भव्य ही मोक्ष का अधिकारी है। अभव्य अनन्त काल में भी कदापि नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि भवी और सम्यक्त्वी जीव में मोक्ष का अधिकारी कौन है ? उत्तर में शास्त्राकर महर्षि ने दोनों को मोक्ष प्राप्ति के योग्य बताए हैं। पारिमाणिक भाव से मूलतः जीव के भवी और अभवी दो भेद होते हैं। 'सम्यक्त्वी' यह कोई स्वतन्त्र भेद नहीं है। अतः भव्य जीव ही मिथ्यात्व नाश के बाद सम्यक्त्वी बनता है। यह सत्य के स्पष्टीकरणार्थ युक्तिपूर्ण तर्क का आकार इस तरह होगा कि जो भवी होता

है वह मोक्ष में जाएगा ? या जो मोक्ष में जाएगा वह भवी होगा ? इस तर्क के उत्तर से स्पष्ट है कि जो मोक्ष में जाएगा वह निश्चित ही भवी कहलाएगा। इसमें अंश मात्र भी संदेह नहीं है, परन्तु जो भवी है वह मोक्ष में निश्चित जाएगा ही ऐसा निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते हैं, यद्यपि मोक्ष विषयक योग्यता भव्य-जीव में ही है। भव्यातिरिक्त अभव्यजीव के मोक्षगमन का प्रश्न ही नहीं उठता है, परन्तु जातिभव्य या दुर्भव्य जीव के लिये, भव्य की जाति के होते हुए भी, मोक्ष प्राप्ति योग्य साधन सामग्री की उपलब्धि के अभाव में कदापि मोक्ष गमन सम्भव ही नहीं है। दूसरी तरफ अनन्तान्त भव्य जीवों की सख्या इतनी है कि अनन्त-अनन्त काल तक मोक्ष में जाते रहें तो भी समाप्त नहीं होगी। न तो काल की समाप्ति होगी और न ही भव्य जीवों की संख्या की समाप्ति होगी। यदि संसार में भव्य जीवों की संख्या समाप्त हो जाये तो एक दिन मोक्ष प्राप्ति का अन्त आ जाएगा। मोक्ष प्राप्ति रुक जायेगी, लेकिन अनन्त भूतकाल इस बात का प्रमाण है कि भूतकाल अनादि अनन्त बीतन के बावजूद भी न तो भव्य जीवों की संख्या समाप्त हुई है और न ही काल की समाप्ति हुई है। ठीक ऐसे ही भविष्य में अनन्तानन्त काल बीतने के बाद भी एक दिन भी ऐसा नहीं आएगा जिस दिन ससार में मोक्ष जाने वाला कोई भव्य जीव शेष ही न बचा हो, और न ही कोई ऐसा दिन आयेगा जब मोक्ष में जाने वाले कई भव्य जीव कतार में खड़े रहे होंगे और काल ही समाप्त हो गया हो, शेष न रहा हो। ऐसा "**न भूतो न भविष्यति**" न हुआ है, और न होगा। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि संसार अनादि-अनन्त है, काल भी अनादि-अनन्त है, मोक्षगमन की प्रक्रिया भी अनादि-अनन्त काल तक है, और मोक्ष में जाने वाले भव्यजीवों की संख्या भी अनन्तान्त है। अतः भव्य जीवों का मोक्षगमन अनन्तानन्त काल तक होता ही रहेगा। अनेक भव्य जीव ऐसे हैं जो अनन्त काल बीतने के बाद भी मोक्ष में न जाते हुए ससार में ही रहे होंगे। अतः निश्चित रूप से कहना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि जो मोक्ष में जाएगा वह भव्य अवश्य ही होगा, परन्तु जो भव्य होगा वह मोक्ष में जाएगा भी, या नहीं भी जाएगा।

इसी बात को सम्यक्त्वी के दृष्टिकोण से देखने पर तर्क का आकार इस तरह होगा कि जो सम्यक्त्वी होता है वह मोक्ष जाता है या जो मोक्ष में जाता है वह सम्यक्त्वी होता है ? इसके उत्तर में स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे के अविनाभाविपूरक है। अर्थात् जो सम्यक्त्वी होगा वह अवश्य ही मोक्ष में जाएगा और जो मोक्ष में

जाएगा वह अवश्य ही सम्यक्त्वी होगा। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही मोक्ष प्राप्ति की सूचक निशानी है। अतः सम्यग्दर्शन प्राप्त सम्यक्त्वी जीव अवश्य ही मोक्ष में जाएगा। इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। सम्यक्त्व को भव्य ही प्राप्त करता है। इसलिए भव्य जीव अवश्य ही मोक्ष में जाएगा, ऐसा न कहकर "भव्य-सम्यक्त्वी जीव अवश्य ही मोक्ष में जाएगा।" यह कहना स्पष्ट सत्य होगा। भव्य जीव कब और कैसे मोक्ष प्राप्त करता है? यह प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसे अब आगे देखेंगे।

अनन्त संसार में जीव का परिभ्रमण—

आत्मसत्तारूप से जीव स्वद्रव्य से नित्य रहता है। स्वद्रव्य स्वरूप से जीव का अस्तित्व अनादि-अनन्त नित्यरूप होता है। जीव द्रव्य अनुत्पन्न अविनाशी द्रव्य है। जो उत्पन्न होता है वह विनाशी होता है और जो अनुत्पन्न होता है वह अविनाशी होता है। उत्पन्न द्रव्य अनित्य एवं नाशवन्त होता है, जबकि अनुत्पन्न द्रव्य जो कभी उत्पन्न ही नहीं होता है, वह नित्य—अविनाशी-शाश्वत होता है। पुद्गल-जड़ पदार्थ उत्पन्न द्रव्य है, अतः वह क्षणिक एवं नाशवंत है। जीवद्रव्य (आत्मा) अनुत्पन्न होने से त्रैकालिक शाश्वत है। संसार, यह जीव और अजीव की संयोगी-वियोगी अवस्थाविशेष है। अतः संसार अपने रूप में कोई स्वतन्त्र अस्तित्ववान् द्रव्य नहीं है। जीव की अजीव पुद्गल पदार्थ के साथ संयोगी-वियोगी अवस्था को संसार कहते हैं। अतः न तो संसार को किसी ने बनाया है और न ही आत्मा को किसी ने निर्माण (बनाई) की है, और न तो बनती है, न ही बनाई जाती है, न ही इसका कोई कर्ता-निर्माता है। जीव स्वयं अपने ससार का निर्माता है। वह अपने रहने के लिये पुद्गल परमाणु पदार्थों का देहरूप पिण्ड बनाकर उसमें रहता हैं। अतः जीव ही अपना शरीर बनाता है। इस तरह नित्य-अनित्य, उत्पन्न-अनुत्पन्न, विनाशी-अविनाशी, ऐसे जड-चेतन दो द्रव्यो के संयोग-विशेष का बना हुआ यह संसार चलता रहता हैं। सयोगी द्रव्य का ही वियोग होता है। जीव का देह के साथ संयोग, व्यावहारिक भाषा में जन्म कहलाता है, और मात्र अल्पकाल के लिये देह वियोग को व्यावहारिक भाषा में मृत्यु कहते हैं। अतः जन्म-मरण यह आत्मा और पुद्गल की मात्र संयोगी-वियोगी अवस्थाविशेष है। नियम यह है कि—"जातस्य ध्रुवो मृत्युः" जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित ही होती हैं, तथा जो उत्पन्न होता है, उसका

विनाश अवश्य ही होता है। मृत्यु का अर्थ आत्मा का नाश नहीं है, परन्तु मात्र आत्मा का देह के साथ कुछ काल का वियोग विशेष है।

आत्मा अजर-अमर एवं शाश्वत द्रव्य है। द्रव्य को उद्पाद्-व्यय-ध्रौव्य युक्त (उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्) द्रव्य कहते हैं। पर्याय स्वरूप से द्रव्य उत्पाद-व्यय युक्त होता है। और स्वद्रव्य के अस्तित्व से नित्य होता है। आत्मा स्वद्रव्यरूप अस्तित्त्व से नित्य है, परन्तु जन्म-मरण की पर्याय के कारण वह उत्पाद-व्यय युक्त है। अमुक प्रकार की गति में जन्म लेकर नाम-देहधारी आत्मा मनुष्य पशु-पक्षी, देव-नारकी, आदि पर्यायवान् कहलाती है। यह पर्याय जन्म से उत्पन्न होती है, और मृत्यु से नष्ट होती है, जैसे सोने के गहने-आभूषण की आकृतियाँ (पर्याय) सैकड़ों बार बदलने के बावजूद भी सोना, पर्याय रूप से उत्पन्न-नष्ट होता हुआ भी, अपनी मूलभूत धातुरूप से सदा ही नित्य (ध्रौव्य) रहता है। वैसे ही आत्मा भी मनुष्य-पशु-पक्षी-देव-नारकी आदि जन्म में नाम-देहधारी पर्याय (आकृति) विशेष से उत्पाद-व्यय (उत्पन्न नष्ट) रूप होती हुई भी स्वद्रव्य रूप अस्तित्व से ध्रौव्य अर्थात् अजर-अमर शाश्वत नित्य एवं अविनाशी रहती है। अतः जन्म-मरण की प्रक्रिया में आत्मा की मृत्यु नहीं होती है, लेकिन नाम-गति जाति-शरीर आदि का ही परिवर्तन मात्र होता है। अर्थात पर्याय बदलती है, और आत्मा नित्य रहती है।

इस तरह इस आत्मा ने अनन्त बार जन्ममरण धारण किये हैं। आत्मा उत्पन्न द्रव्य न होने के कारण उसकी आदि न होने से अनादि अवस्था है। अनादिकाल से आत्मा संसार में जन्म-मरण धारण करती ही रहती है। अनन्त जन्म-मरण बीत चुके हैं। इस तरह काल भी अनन्त बीत गया है। अतः अनादि-अनन्त काल से संसार की चार गतियों में परिभ्रमण करती हुई एवं ८४ लक्ष जीवयोनियों में जन्म-मरण धारण करती हुई, इस आत्मा ने अनन्त-अनन्त भव बिता दिये हैं। (इसका विस्तृत विवेचन पहली पुस्तिका में किया गया है) जब जन्म-मरण अनन्त-अनन्त बीते हैं, तब स्वाभाविक है कि काल भी निश्चित रूप से अनन्त ही बीता है। यद्यपि अनन्त की संख्या होते हुये भी काल का अनन्तपना ज्यादा है या जीवों के जन्म-मरण की संख्या का अनन्तपना ज्यादा है? उत्तर स्पष्ट ही है कि एक जन्म का जीवन अमुक घंटों-महीनों-वर्षों का होता है। अतः भव संख्या की अपेक्षा कालकी अनन्त संख्या बहुत बड़ी है। हम सर्वज्ञ प्रभु को पूछें कि [illegible] इस संसार में जन्म-मरण करते

हुए कितने वर्ष बीते है तो इसके उत्तर में सर्वज्ञ-प्रभु ऐसा फरमाएंगे कि—"वर्ष" यह संज्ञा उत्तर देने में बहुत छोटी पड़ती है। वर्ष, युग, आरे पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालचक्र आदि संज्ञाएं इतनी छोटी पड़ती है कि—वे भी "कितने वर्ष बीते" इसकी गिनती का सही उत्तर नहीं दे पाती है। अतः सर्वज्ञ प्रभु इसके उत्तर में अनन्तपुद्गलपरावर्तकाल नामक संज्ञा का प्रयोग करते हैं। अब यह अनन्तपुद्गलपरावर्तकाल क्या है ? इसका विचार करें। "अनन्तपुद्गलपरावर्तकाल" यह जैन परिभाषिक शब्द है। यह कालवाची संज्ञा है। इससे समझने के लिए जैनदर्शन की TIME THEORY काल तत्त्व की प्रक्रिया को समझना जरूरी है जिससे अनन्तपुद्गलपरावर्तकाल समझ में आएगा।

TIME-THEORY काल पद्धत्ति—

काल द्रव्य अजीवतत्त्व है। अजीव तत्त्व के १४ भेद में काल की गणना की गई है। यह प्रदेश समूह रूप अस्तिकाय न होने से पंचास्तिकाय में नहीं गिना जाता है। "**वर्तनालक्षणो कालः**" इस सूत्र के आधार पर वस्तु नए-पुराने आदि परिवर्तन सूचक लक्षण वाला काल द्रव्य है। काल की गणना के आधार पर ही हम नये-पुराने, उम्र में छोटी-बड़ी तथा भूत-वर्तमान-भविष्य आदि का व्यवहार करते हैं। सूक्ष्म से स्थूल की तरफ जाते हुए काल की गणना छोटी से बड़ी संख्या होती जाती है। इस तुलना का स्पष्टीकरण निम्न कोष्ठक से स्पष्ट किया जा रहा है।—

सूक्ष्मतम अविभाज्य काल = १ समय (निश्चिय काल)
असख्य समय = १ आवलिका
२५६ आवलिका का = १ क्षुल्लक भव निगोद में।
साधिक १७।। क्षुल्लकभव = १ श्वासोश्वास
७ श्वासोश्वास (प्राण) = १ स्तोक
७ स्तोक = १ लव
३८ लव = १ घड़ी
१ घड़ी = २४ मिनट
२ घड़ी = ४८ मिनट
४८ मिनट (दो घड़ी) = १ अंतर्मुहूर्त

एगा कोडी सतसट्ठी, लक्खा सत्तहत्तरी सहस्सा य।
दोय सया सोलहिआ, आवालिया इग मुहुत्तम्मि॥

३७७३ श्वासोश्वास = ६५५३६ निगोद के क्षुल्लक भव।

६५५३६ क्षुल्लकभव = १६७७७२१६ आवलिका

१६७७७२१६ आवलिका = १ अतर्मुहूर्त (२ घड़ी)

३० मुहूर्त = १ दिन (अहोरात्र)

१५ दिन (दिन + रात) = १ पक्ष (पखवाड़ा)

२ पक्ष (कृष्ण-शुक्ल) = १ महिना (मास)

२ मास = १ ऋतु

३ ऋतु = ६ मास

६ मास (३ ऋतु) = १ अयन (उत्तरायन, दक्षिणायन)

२ अयन (१२ मास) = १ वर्ष

५ वर्ष = १ युग

१० वर्ष = १ दशक

१०० वर्ष = १ शतक (शताब्दि)

१००० वर्ष = १ सहस्त्राब्दि

१० सहस्त्राब्दि = १०००० वर्ष

१००००० (शतसहस्त्राब्दि) = १ लाख वर्ष

८४ लाख वर्ष = १ पूर्वांग

पूर्वांग + पूर्वांग = १ पूर्व।

१ पूर्व = ७०५६०००००००००० वर्ष (७०,५६० अरब वर्ष)

ऐसे

८४ लाख पूर्व का ऋषभदेव भगवान का एक आयुष्य था।

असंख्य वर्ष = १ पल्योपन

१० कोडाकोडी पल्योम = १ सागरोपम

१ करोड (कोडि) को १ करोड़ से गुणाकार करने पर जो संख्या आती हैं उसे एक कोटा-कोटि कहते हैं १०००००००००००००००। एक के अंक ऊपर १४ शून्य की संख्या जिसे "शंकु" कहते हैं, वह कोटा-कोटि कहलाती हैं।

ऐसे १० कोटा-कोटि पल्योम = १ सागरोपम

१० कोटा-कोटि सागरोपम = १ उत्सर्पिणी

१० कोटा-कोटि सागरोपम = १ अवसर्पिणी

१ उत्सर्पिणी + १ अवसर्पिणी = १ कालचक्र

१ कालचक्र = २० कोटा-कोटि सागरोपम

अनन्त कालचक्र = १ पुद्गलपरावर्तकाल

ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल = जीव का संसार परिभ्रमण

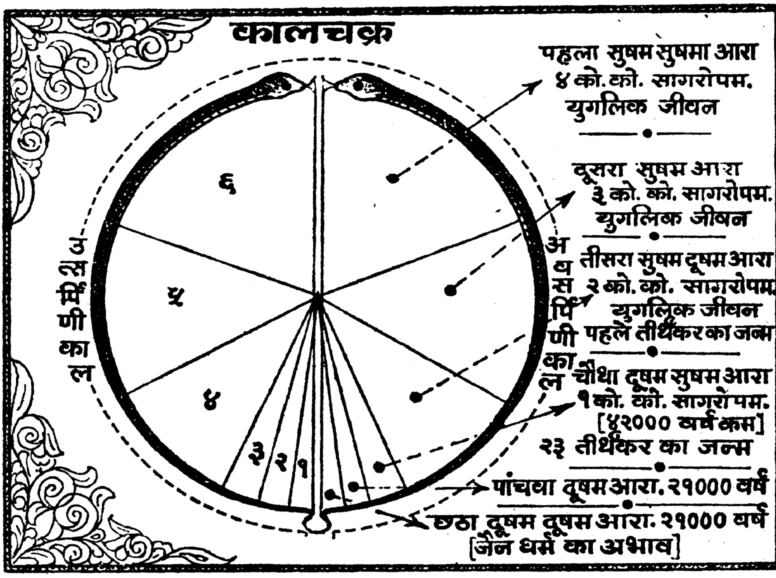

६ आरे का स्वरूप—

(१) सुखम्-सुखम् नामक पहला आरा = ४ कोटाकोटि सागरोपम।

(२) सुखम्-नामक दूसरा आरा = ३ कोटाकोटि सागरोपम।

(३) सुखम्-दुःखम् नामक तीसरा आरा = २ कोटाकोटि सागरोपम

(४) दुःखम्-सुखम् नामक चौथा आरा = ४२००० वर्ष न्यून ऐसा १ कोटाकोटि सागरोपम वर्ष

(५) दुःखम् नामक पांचवां आरा = २१००० वर्ष

(६) दुःखम् दुःखम् नामक छठा आरा = २१००० वर्ष

६ आरे = १ उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी } = १० कोटाकोटि सागरोपम

पल्योपम का स्वरूप—

कितने वर्षों का एक पल्योपम होता है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार महापुरुषों ने असंख्य वर्षों का एक पल्योपम होता है ऐसा बताया है, परन्तु असंख्य वर्षों की गणना कैसे की जाय ? या असंख्य वर्ष बराबर कितने वर्ष होते हैं ? इसे समझने के लिए शास्त्रों में एक कुए का दृष्टांत है जो १ योजन लम्बा, १ योजन चौड़ा एवं १ योजन गहरा हो । उसमें तुरन्त के जन्मे हुए नवजात युगलिक शिशु के सिर के बालों को इकट्ठा करके, उनके बारीक टुकड़े करें कि जिसके पुन: टुकड़े हो ही न सकें । इतने टुकड़ों को इस कुएँ में इतने दबादबा कर भरें कि जिसमें खूब दबाने के बाद एक बाल भी जा न सके । इस पर से चक्रवर्ती की चतुरंगी सेना चली जाय तो भी उन्हें कुएँ का ख्याल ही न आए । इतना कुएं का जमीन के समकक्ष लेवल बन जाय ।

इस कुएं में से सौ-सौ (१००–१००) वर्ष के अन्तर से एक-एक बाल का टुकड़ा निकालने पर वह कुआ जितने वर्षों में खाली हो, उस काल को १ पल्योपम कहते हैं । इसका बादर पल्योपम नाम है ।

उन बाल के टुकड़ों के फिर असंख्य छोटे-छोटे टुकड़े करके वही कुआ भरा जाय और उन सूक्ष्मतम बाल के टुकड़ों को पुन: (१००-१००) सौ-सौ वर्ष के अन्तर से निकालते हुए जितने वर्षों में पूरा कुआ खाली हो, उतने असंख्य वर्षों का एक पल्योपम होता है । इसे सूक्ष्म अद्धा-पल्योपम काल कहते हैं ।

इस प्रकार जैन दर्शन की काल गणना में भिन्न-भिन्न ६ प्रकार के पल्योपम बताए गए हैं ।

पल्योपम

बादर अद्धा पल्योपम	सूक्ष्मअद्धा पल्योपम	बादर उद्धार पल्योपम	सूक्ष्मउद्धार पल्योपम	बादरक्षेत्र पल्योपम	सूक्ष्मक्षेत्र पल्योपम

सागरोपम

बादरअद्धा सागरोपम	सूक्ष्मअद्धा सागरोपम	बादरउद्धार सागरोपम	सूक्ष्मउद्धार सागरोपम	बादरक्षेत्र सागरोपम	सूक्ष्मक्षेत्र सागरोपम

इस तरह बादर और सूक्ष्म के भेद से ६ प्रकार के पल्योपम और ६ प्रकार के सागरोपम होते हैं। प्रत्येक प्रकार के पल्योपम को दश कोडाकोडी से गुणाकार करने पर जो संख्या आती है, उसे अमुक प्रकार का सागरोपम कहते हैं, अर्थात १० कोडाकोडी बादर उद्धार पल्योपम का एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। इस तरह सभी समझने चाहिए। सूक्ष्म अद्धा सागरोपम काल का प्रमाण-नारकी-देव-तिर्यंच-मनुष्य गति के जीवों की उत्कृष्ट कर्मबंध स्थिति कायस्थिति और भवस्थिति आदि को दर्शाने में लगता है। इससे देव-नारकी जीवों के आयुष्य को गिना जाता है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थिति ७० कोडाकोडी सागरोपम की है. वैसे ही आठों ही कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थितियों को नापने एवं समझने के लिए इस सागरोपम संज्ञा का आधार लेना पड़ता है। १० कोडाकोडी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल और १० कोडाकोडी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल होता है। इस तरह उत्सर्पिणी + अवसर्पिणी मिलकर (१० + १० = २०) २० कोडी सागरोपम का एक कालचक्र बनता है।

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गल-परिअट्टओ मुणेअव्वो।

तेऽणंता-तीअद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ॥

अनन्त-उत्सर्पिणी-और अवसर्पिणी का एक पुद्गलपरावर्त काल होता है ऐसी कालचक्र की अनन्त उत्सर्पिणियां और अवसर्पिणियां बीतने पर १ पुद्गलपरावर्तकाल होता है, ऐसा कह सकते हैं। ऐसे पुद्गलपरावर्तकाल भी भूतकाल में अनन्त बीत चुके हैं, तथा भविष्यकाल में और अनन्तगुने होने वाले हैं। इस तरह भूतकाल (अतीत) भी अनन्त है, और अनागत-भविष्यकाल भी अनन्त है। काल का कहीं अन्त ही नहीं है। काल अनादि-अनन्त है।

ऐसे अनन्त कालचक्र या अनन्त उत्सर्पिणियां अवसर्पिणियां मिलकर "एक पुद्गल परावर्तकाल" बनता है। "पुद्गल परावर्त" यह जैन पारिभाषिक शब्द है।

अनन्त-अनन्त वर्षों के काल की संज्ञा का द्योतक है। योगाबिन्दु ग्रन्थ में हरिभद्र-सूरिजी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

चरमे पर्यन्तर्वातिनि पुद्गलावर्ते द्रव्यतः सामान्येन सर्वपुद्गलग्रहणोज्झनरूपे प्रवृते सति ।

द्रव्य से सामान्य रूप से सर्व पुद्गलों का ग्रहण और त्याग (उंज्झन) किया जाय, उसमें जितना काल बीते, उसे पुद्गल परावर्तकाल कहते हैं। चौदह राजलोक परिमित समस्त ससार में अनन्त पुद्गल परमाणु हैं, जिनकी मुख्य रूप से सात महावर्गणाए हैं।

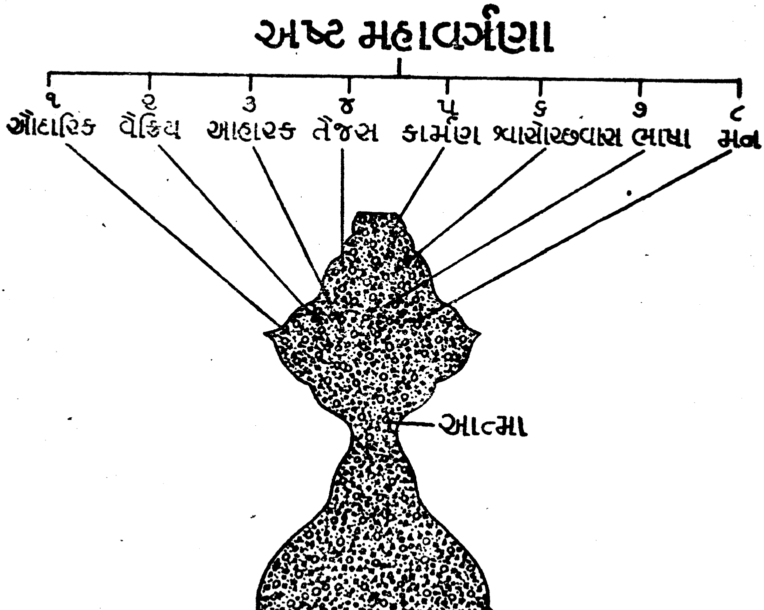

१. औदारिक वर्गणा, २. वैक्रिय वर्गणा, ३ तैजस वर्गणा, ४. कार्मण वर्गणा, ६. श्वासोश्वास वर्गणा और ७. मनोवर्गणा। इसमें (८) आहारक वर्गणा साथ में गिनने पर अष्ट महावर्गणा कहलाएगी। इन सब वर्गणाओं के अनन्तपुद्गल परमाणु जो लोक में भरे हुए हैं, उन्हें जीव ग्रहण करके परिणमन करता हुआ पुनः छोड़ दें,

इसमें जितना काल बीते उसे १ द्रव्य बादर पुद्गल परावर्तकाल कहते हैं। इसमें यदि वर्गणाओं के कर्मानुसार यदि भोगे अर्थात् सभी वर्गणाओं के सभी पुद्गल परमाणुओं को वर्गणा रूप में ग्रहणपरिणमन, उंज्झन आदि करता हुआ, जीव जितना काल बिताता है, उसे द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गल परावर्त काल कहते हैं। इस तरह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि चार प्रकार से सूक्ष्म-बादर के साथ कुल आठ प्रकार के पुद्कल परावर्त काल होते हैं।

पुद्गल परावर्त काल

१	२	३	४	५	६	७	८
बादरद्रव्य पुद्गल परावर्त काल	सूक्ष्मद्रव्य पुद्गल परावर्त काल	बादरक्षेत्र पुद्गल परावर्त काल	सूक्ष्मक्षेत्र पुद्गल परावर्त काल	बादरकाल पुद्गल परावर्त काल	सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त काल	बादरभाव पुदगल परावर्त काल	सूक्ष्मभाव पुद्गल परावर्त काल

ऐसे पुद्गल परावर्त काल जीव ने भूतकाल में अनन्त बिताये हैं।

शास्त्रकार महर्षि यहां तक कहते हैं कि—जीव ने भूतकाल में जो अनन्त पुद्गलपरावर्त बिताये हैं, वे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सूक्ष्म पुद्गल परावर्त काल बिताये हैं। बादर तो मात्र सूक्ष्म को समझने की पूर्व भूमिका है। संसार में जीव ने इतने अनन्त पुद्गल परावर्तकाल बिताए हैं कि जिसकी गणना भी सम्भव नहीं है। जैसे जीवविचार में कहा है कि—

एवं अणोरपारे, संसारे सयरंमि भीयंमि।
पत्तो अणंतखुत्तो, जीवेहिं अपत्त-धम्मेहिं ॥

—"अणोरपारे" अर्थात् जिसका कभी पार न पाया जाय, ऐसे भयंकर संसार रूप महासागर में बिना धर्म की प्राप्ति के जीव अनन्तबार गिरा है। बड़ी गहराई तक फँसा हुआ रहा है। इस तरह अनन्तबार इस अनन्त संसार में गिरता-फँसता जीव परिभ्रमण करता हुआ समय बिताता रहा। जहां तक सम्यग् सत्य धर्म प्राप्त नहीं हुआ, वहां तक जीव की यही स्थिति रही। जैसा कि हम पहली पुस्तक में विवेचन कर चुके हैं, उतना अनन्तकाल जीव ने सूक्ष्म निगोद (सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय) में बिताया है, उसी तरह निगोद से बाहर निकलकर बाह्य संसार में भी अनन्तकाल बिताया है। चार गति में एवं एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक की पांच

जातियों में एवं ८४ लक्ष जीवयोनियों में परिभ्रमण करते हुए जीव ने अनन्त भव एवं अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल बिताया है। यह सारा काल मिथ्यात्व की अज्ञान दशा में बीता है। अतः ऐसे मिथ्यात्व को अनादि मिथ्यात्व भी कह सकते हैं। जन्म जरा मरण रूप जल तरंगों से व्याप्त भीषण भयंकर भवरूप संसार समुद्र में मिथ्यात्वमोहनीय आदि प्रबल गाढ़ कर्मप्रकृतियों के कारण जीव अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल तक परिभ्रमण करता रहा। सूक्ष्म अव्यवहार राशि निगोद में जीव ने अनन्त जन्म बिताए। अकाम निर्जरा आदि उपयोगी एवं सहयोगी कारणों से तथा भव्यत्व परिपक्व होने पर वह किसी आत्मा के संसार से मुक्त होने पर अव्यवहार राशि निगोद का जीव सूक्ष्म निगोद में से बाहर निकलकर वादर पर्याय में आया, और क्रमशः भव परम्परा में आगे बढ़ता हुआ ८४ लक्ष जीवयोनियों में भटकता हुआ सुख, दुःख की थपेड़े खाता हुआ अनन्त भव एवं अनन्तपुद्गलपरावर्तकाल बिताता हुआ आगे बढ़ता है।

चरमावर्त में प्रवेश—

इस तरह महाभयंकर दुःखदायी संसार समुद्र में अनन्तपुद्गलपरावर्तकाल में अनन्त दुःखों को सहन करता हुआ जीव चरमावर्त में प्रवेश करता है। चरम = अन्तिम, आवर्त = कालचक्र के गोलाकार वलय। चरमावर्त अर्थात् कालचक्र के अन्तिम वलय-आकार अवस्था में जीव का प्रवेश करना। जैसे मानो कि तेली का बैल दिन-रात घूमता-घूमता अन्तिम बार के चक्कर में आकर खड़ा रहता है, ठीक वैसे ही भव्यजीव अपना "तथा भव्यत्व" परिपक्व होने के कारण अन्तिम बार के पुद्गलपरावर्तकालचक्र के गोले में अर्थात् चरमावर्त में आकर प्रवेश करता है। जैसे जैसे अग्नि के तीव्र तापादि कारण से चूल्हे पर चावल, दाल या खिचड़ी पक जाने पर "परिपक्व" होने पर अब उसे अन्तिमबार देखकर पुनः रखकर फिर उतारने की तैयारी की जाती है, वैसे ही अनन्त संसार के अनन्त दुःखों में दुःखी होता हुआ, एवं ८ लक्ष जीवयोनियों में अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल तथा अनन्तकाल बिताता हुआ जीव तथा भव्यत्व परिपक्व होने पर भवभ्रमण के अन्तिम पुद्गलपरावर्तचक्र के चरम काल में पहुँचता है। जैसे प्रकाश, पानी, हवा आदि सहयोगी कारण मिलने से, एक बीज में अंकुरोत्पत्ति होती है और बीज जैसे वृक्ष बनने की दिशा में आगे बढ़ता है, ठीक वैसे ही काल, स्वभाव, नियति पूर्वकृतकर्म, पुरुषार्थ आदि पांच समवायी कारणों के योग को प्राप्त करके, तीव्र अकामनिर्जरा के बल पर, अपना तथाभव्यत्व परिपक्व करता है। सभी जीवों में भव्यत्व समान होते हुए भी तथाभव्यत्व उस अवस्था में एक विशेष प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ जैसे एक ही प्रकार का दूध, जो भिन्न-भिन्न पात्रों में पड़ा है उसमें से किसी एक पात्र के दूध में बादाम, पिस्ता, शक्कर, इलायची,

केशर आदि पदार्थ के सहयोगीकरण से उस दूध में विशिष्टता आती है, वैसे ही सर्व जीवों में भव्यत्व समानरूप होते हुए भी काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृतकर्म और पुरुषार्थ आदि समवायी निमित्तों का किसी विशेष भव्य जीव को सहयोग मिलने पर उस जीव का तथाभव्यत्व परिपक्व होता है। ऐसा तथाभव्यत्व परिपक्व भव्यजीव का भव्यत्व सामान्य भव्य के भव्यत्व से (केशरी दूध की तरह) भिन्न कक्षा का होता है। ऐसा तथाभव्यत्व वाला भव्य जीव ही संसार क्षय एवं मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ने की योग्यता वाला होता है।

धर्मसन्मुखीकरणकाल–

ऐसा तथाभव्यत्व परिपक्ववाला जीव चरमावर्त में प्रवेश करके शुद्ध अध्यवसायों की तरफ अग्रसर होता है। यहां पर जीव अपनी अनादि काल की "ओघ" दृष्टि को छोड़कर "योग" दृष्टि में प्रवेश करता है। मित्र एवं तारा दृष्टि में जीव स्वल्प मात्र बोध प्राप्त करता है। धर्म श्रवण करने की उसकी जिज्ञासा जागृत होती है। मन में उद्भूत धर्म श्रवण एवं दुःख निवृत्तिरूप शुभ भाव रूप धर्म श्रवण करने की जिज्ञासारूप अभिलाषा के काल को "श्रवण-सन्मुखीकाल" कहा है धर्मसन्मुखीकरणकाल का यह प्रथम सोपान है। प्रथम श्रवणसन्मुख होने के बाद ही धीरे-धीरे जीव धर्मसन्मुख होता है। इस तरह अनादि अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को मुक्ति के लिए या आत्मा की सर्वोत्कृष्ट शक्ति के आविर्भाव के लिए पहले की अपेक्षा परिणामों की विशुद्धि निर्माण होती है, और वह चरमावर्तकाल में ही "मार्गानुसारी" बनकर कुछ गुणों को लाने की कोशिश करता है। यह इच्छा जीव को मार्गसन्मुखी बनाती है। यहां "मार्ग" शब्द से धर्म अर्थ लिया है। वास्तव में यह जीव पूर्ण धर्मी नहीं बनता है, परन्तु धर्मी बनने की पात्रतारूप एवं "धर्ममार्ग" को अनुसरने की योग्यता प्राप्त करता है। यह धर्मसन्मुखीकरण का योग्य काल है। इन कालों को भिन्न-भिन्न नामकरण द्वारा कहा गया।

अचरमो परिअट्टेसुं कालो भवबालकालमो भणिओ।
चरमो अ धम्मजुव्वण, कालो तह चित्तभेओत्ति ॥
ता बीअपुव्वकालो, णेओ भवबालकाल एवेह।
इयरो उधम्मजुव्वण-कालो विहिलिंगगम्मुत्ति ॥

अचरम पुद्गलपरावर्तकाल अर्थात् चरमपुद्गलपरावर्त काल में आने के पहले के जो अनन्त पुद्गलपरावर्त का काल था, वह संसार परिभ्रमण का कारण होने से उसे "संसारबालकाल" कहा है, जबकि अन्तिम चरम पुद्गलपरावर्तकाल धर्मसन्मुखीकरण या धर्मप्रवेश का काल होने से इसे "धर्मयौवनकाल" कहा है। इस धर्मयौवनकाल में सत्य-सम्यग् धर्म को प्राप्त करके इस दुःखरूप संसार से मुक्त होने के शुभ परिणाम से जीव तथाभव्यत्वदशा का परिपाक होने के कारण यथाप्रवृत्तिकरण करने में अग्रसर होता है।

यथाप्रवृत्तिकरण—

"यथाप्रवृत्ति" शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि—यथा + प्रवृत्ति = यथाप्रवृत्ति। जैसी कर्मक्षय की प्रवृत्ति जीव पूर्वकाल में करता था अर्थात् अकामनिर्जरावश जो कर्म खपाता था, वैसी ही प्रवृत्ति विशेष रूप से करता हुआ कर्म क्षय के लिए आगे बढ़ना, इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। अनादिकाल की कर्म बांधने और खपाने की प्रवृत्ति को यथाप्रवृत्ति कहते हैं। विशेष आदि सहयोग से इस यथाप्रवृत्तिकरण में जीव कर्मक्षय की तरफ और प्रबल शक्ति से आगे बढ़ता है। ऐकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि जीव अनिच्छा होते हुए भी भूख, प्यास, धूप आदि दुःखों को परवशरूप से जो सहन करता है, उसमें जो कर्म की निर्जरा होती है उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। ऐसे प्राणी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि पंचेन्द्रिय पर्याय के भी हों, उनमें भी यदि इच्छा के बिना एवं समझशक्ति आदि के बिना, जो पढ़ना, चढ़ना, गिरना, भूख, प्यास, धूप, जाड़ा, गरमी एवं मजबूरी वश किये जाते कामों में, जो दुःख पराधीनपने सहन करता है, उस समय जो कर्म की निर्जरा होती है, उसे अकामनिर्जरा कहते हैं। ऐसी अकामनिर्जरा करता हुआ जीव कई कर्मों की स्थितियां कम करता है। यद्यपि यह स्वेच्छा एवं समझपूर्वक नहीं होता है, तथापि कम स्थितियां जरूर घटती है।

उदाहरण के लिए समझिये कि —जैसे "घूण" नामक कीड़ा जो लकड़े में रहता है, और लकड़ा काटता हुआ एक किनारे से दूसरे किनारे तक आता-जाता है, उस समय न जानते, न समझते हुए भी जो अक्षर उस काष्ठ पर पड़ते हैं, उसे घूणाक्षर कहते हैं, "घूण" कीड़े को यह खबर नहीं है कि मैं क्या कर रहा हूँ। फिर भी अ, इ, उ, ण, न, क, ड आदि अक्षर बन जाते हैं। ठीक वैसे ही मुझे कर्मनिर्जरा

करनी है, ऐसा न जानते, न समझते हुए भी जीव जिन कर्मों की अकामनिर्जरा करता जाता है, उसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

इस विषय में "नदीगोलपाषाण न्याय" का एक दूसरा दृष्टान्त भी है। उदाहरण के लिए समझिए कि—एक पहाड़ की घाटी के बीच में से एक नदी बह रही है। पानी के प्रवाह के साथ कई छोटे-बड़े पत्थर भी घसीटे जा रहे हैं। यद्यपि पत्थर अपनी तरफ से कुछ भी प्रयत्न नहीं कर रहा है, फिर भी पानी के प्रवाह के साथ घसीटा जाता हुआ वह पत्थर घिसते-घिसते एक दिन बड़ा ही सुन्दर मनोहर गोल आकृति वाला बन जाता है, जैसे मानों वह किसी मणि या रत्न की तरह लगता हो। इसे "नदी + पाषाण + न्याय" अर्थात् नदी के प्रवाह में जैसे पत्थर (पाषाण) गोल हो जाता है ठीक इसी तरह पत्थर के स्थान पर मिथ्यात्व दशा में पड़ा हुआ जीव पाषाण की तरह स्वयं कोई प्रयत्न विशेष, स्वेच्छा से न करता हुआ, सुख-दुःख की थपेड़ें खाता हुआ भी चतुर्गतिरूप संसार में अनन्त पुद्गलपरावर्तकाल से परिभ्रमण करता हुआ, यथाप्रवृत्तिकरण के लिए उद्यत होता है। इस तरह "नदी-गोलपाषाण न्याय" या "घूणाक्षर न्याय की तरह जीव अनाभोगभावरूप अर्थात् बुद्धि-समझ या स्वेच्छा के बिना भी जीव जो कर्मों के स्थिति बल को घटाता है तथा मिथ्यात्व को मन्द करता है. इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

यथाप्रवृत्तिकरण

सामान्य	विशेष (विशिष्ट) या पूर्वप्रवृत्त

यथाप्रवृत्तिकरण दो प्रकार का होता है। (१) सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण जिसे अभव्य जीव भी कर सकते हैं। (२) दूसरा विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण जिसे शास्त्रों में पूर्वप्रवृतयथाप्रवृत्तिकरण कहा हैं—जिस करण के बाद निश्चित रूप से अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति होती ही है। ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण को पूर्वप्रवृत्त-विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। अर्थात् इसे करने वाला निश्चित ही ग्रन्थिभेद करके अन्य कारणों को करता हुआ आगे बढ़कर सम्यक्त्व पा लेता हैं। सही अर्थ में देखा जाय तो ऐसा यथाप्रवृत्तिकरण आत्मोन्नति या आत्मविकास की दिशा में प्रयास करने वाले जीव के लिए यह पहला

टेशन है। इस पहले स्टेशन पर आए बिना जीव आत्म विकास का कार्य प्रारम्भ ही नहीं कर सकता है। अतः प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करना आवश्यक है।

यद्यपि अभव्य जीव जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए योग्य पात्र भी नहीं हैं, मोक्ष प्राप्ति की जिसकी इच्छा भी नहीं है, ऐसा अयोग्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरण कर लेता हैं, परन्तु आगे बढ़ नहीं पाता है। भव्यात्मा जो योग्यता वाला जीव है, वह यदि आगे के अपूर्वकरण आदि करण न करे, तो पूर्व में किया हुआ यथाप्रवृत्तिकरण भी निष्फल जाता है। जीव ने अनन्तकाल में ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण तो अनन्त बार कर लिए, परन्तु ग्रन्थिभेद न कर सकने के कारण वापिस चला गया, और पुनः कर्मबंध की उत्कृष्ट स्थितियां बांधने लग जाता है। मिथ्यात्व पुनः तीव्र-गाढ हो जाता है। यथाप्रवृत्तिकरण में प्रयुक्त "करण" शब्द आत्मबल, आत्म-अध्यवसाय अर्थ में प्रयुक्त है। ओघदृष्टि में से योगदृष्टि में आया हुआ शुक्लपाक्षिक तथाभव्यत्त्व परिपक्व हुआ है जिसका ऐसा भव्य जीव जो पूर्वप्रवृत्त विशिष्ट प्रकार का यथाप्रवृत्तिकरण करता हुआ अपनी बांधी हुई कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियों को अकामनिर्जरा के बल से घटाता हुआ कम करता है। मिथ्यात्व यहां मंद पड़ता है और आत्मा के अध्यवसाय विशुद्ध बनते हैं। अतः वह जीव स्थितिघात करने में विशेष उद्यत बनता है। जैसे कच्चे आम को घास में रखकर गरमी से परिपक्व किया जाता है, वैसे ही यथाप्रवृत्तिकरण में जीव सातों कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियां काटकर, कम करता हुआ, अन्ततः कोडाकोडी प्रमाण करता है। आठों कर्मों की अपनी-अपनी उत्कृष्ट बंध स्थितियां निश्चित है। वे इस प्रकार बताई गई है—

कर्म की बंध स्थितियां—

- ☐ **आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ (८–१५)**
- ☐ **सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ (८–१६)**
- ☐ **नामगोत्रयोर्विंशतः ॥ (८–१७)**
- ☐ **त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्ककस्य ॥(८–१८)।**

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के उपरोक्त सूत्रों में पू. उमास्वाति महाराज ने आठ कर्मों की उत्कृष्ट बंध स्थितियां इस प्रकार बताई है—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म की ३० कोडाकोडी सागरोपम,

(२) दर्शनावरणीय कर्म की —३० कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति

(३) वेदनीय कर्म की —३० कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति

(४) अन्तराय कर्म की —३० कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति

(५) मोहनीय कर्म की —७० कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति

(६) नाम कर्म की —२० कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति

(७) गोत्र कर्म की —२० कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति

(८) आयुष्य कर्म की —३३ सागरोपम वर्ष उत्कृष्ट स्थिति ।

इस तरह आठों कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थितियां है उनमें से आयुष्य कर्म की बन्ध स्थिति को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट बंध स्थितियों का स्थितिघात करता हुआ अर्थात् घटाकर कम करता हुआ जीव आगे बढ़ता है; और अन्ततः कोडाकोडी सागरोपम के अन्दर की कर लेता है, अर्थात् अब सिर्फ १ कोडाकोडी सागरोपम के अन्दर की स्थिति कर लेता है। अब आगे इतनी ही खपानी शेष रहती है। यह बड़ा भागीरथ कार्य जीव यहां पर करता है।

आयुष्य कर्म एक भवाश्रयि होने के कारण इसका प्रश्न बीच में नहीं आता। इसका स्थितिघात करने की आवश्यकता नहीं रहती जबकि शेष सात कर्म जन्म-जन्मान्तराश्रयि रहते हैं। अतः उनकी लम्बी स्थिति को काटकर जीव कम कर लेता है। बस यही यथाप्रवृत्तिकरण करने का मुख्य प्रयोजन था। इससे कर्मों की उत्कृष्ट बंध स्थिति का घात (स्थिति घात) करने का कार्य सिद्ध होता है। इसके बाद जीव ग्रन्थिप्रदेश के समीप आकर आगे के अपूर्वकरण आदि करण करता हैं। प्राथमिक कक्षा की इस आत्म-विकास की प्रक्रिया को निम्न चित्र से सरलता से समझा जा सकता है।

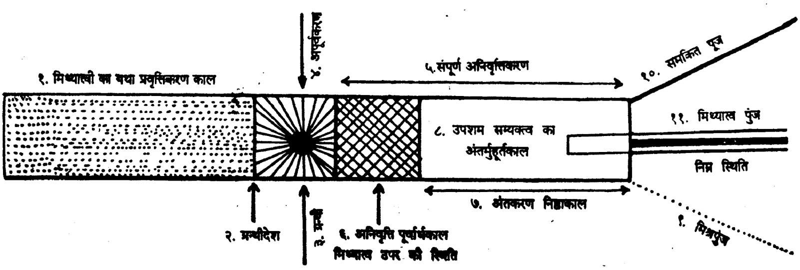

चित्र की विशेष समझ—

(१) जीव का अनादि मिथ्यात्व दशा का काल "मिथ्यात्व" गुणस्थानक कहलाता हैं। इस प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानक पर जीव "नदीगोलपाषाणन्याय" की तरह यथाप्रवृत्तिकरण की प्रवृत्ति करके कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियों को घटाकर अन्ततः कोडाकोडी सागरोपम में भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून जितनी स्थिति घटाने का काम यहां करता है।

(२) राग-द्वेष के तीव्र उदयरूप ग्रन्थि प्रदेश के समीप जीव अनेक बार आता है, परन्तु ग्रन्थि (गांठ) से डरकर वापिस चला जाता है या वहीं रुक जाता है।

(३) ग्रन्थी (गांठ) अथवा मित्यात्व के उदयवाला तीव्र राग-द्वेष का काल।

(४) एक ही अन्तर्मुहूर्त काल में कोई जीव "अपूर्वकरण" रूप आत्मा के निर्मल विशुद्ध अध्यवसाय से राग-द्वेष के आधीन न होते हुए ग्रन्थि (गांठ) का छेदन-भेदन करता है वह "अपूर्वकरण" काल कहलाता है।

(५—६) अभिवृत्तिकरण के अन्तर्महूर्त का पूर्व अन्तमहूर्त काल। (क्रियाकाल) इस काल को पसार करता हुआ भविष्य के अन्तर्महूर्तकाल में उदय में आने वाले मिथ्यात्व के दलिकों में से कुछ वर्तमान कालीन अन्तर्मुहूर्त में खींच लाता है और कुछ भविष्यद् अन्तर्मुहूर्त में डाल देता है। इस प्रकार बीच का अंतर्मुहूर्त मिथ्यात्व दलिकों से रहित बना देता है। यहां पर मिथ्यात्व की सतत लम्बी स्थिति के २ भाग करने से बीच में जो अन्तर पड़ता है उसे "अन्तकरण" कहते हैं। अनिवृत्तिकरण काल के क्रियाकाल के अन्तर्महूर्त को अनिवृत्तिकरण तथा निष्ठाकाल के अंतमहूर्त को अन्तरकरण मानते हैं। दोनों का संयुक्तकाल भी अंतमहूर्त ही होता हैं उसे सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

(७) अंतरकरण —अनिवृत्तिकरण के ही इस अन्तरकरण रूप निष्ठाकाल में मिथ्यात्व दलिक नहीं रहने से यहां पर प्रथम समय में ही उपशम समकित प्राप्त करता है। इसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। कोई-कोई जीव चौथे से भी ज्यादा गुणस्थान भी अन्तरकरण में ही प्राप्त कर लेता है।

(८) अंतरकरण के अंतर्मुहूर्त की अन्तिम ६ आवलिकारूप सास्वादन का काल। कोई मन्द परिणामी जीव उपशम-समकित में ही यहां पर अनन्तानुबन्धी का

उदय होने पर मलिन परिणाम वाला हो जाय, और ६ आवलिका पूर्ण होने पर अवश्य ही मिथ्यात्व का उदय हो जाता है ।

(९) अन्तरकरण के समय में ही भावी मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है उसमें से (अर्धशुद्ध किया हुआ) मिश्र पुंज ।

(१०) सम्पूर्ण शुद्ध किया हुआ समकित पुंज ।

(११) अशुद्ध रहा हुआ मिथ्यात्व पुंज ।

इस तरह चित्र में दिए हुए नम्बर के साथ यहां विशेष विस्तृत परिचय देते हुए स्पष्टीकरण किया गया है । प्रयत्न करने पर स्पष्ट समझ में आ सकता है ।

राग-द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि–

"ग्रन्थि" यह एक संस्कृत शब्द है । इसका अर्थ "गाँठ" होता है । धागे, सुतली या रस्सी की गाँठ, उसके दो भागों को मजबूती से पकड़े रहती है । गन्ने व बांस में जो थोड़ी-थोड़ी दूरी पर, अर्थात् सन्धि स्थल पर, जो गाँठ होती है वह अन्य स्थान की अपेक्षा ज्यादा कठोर होती है । गन्ना खाने वाला व्यक्ति गाँठ वाले भाग को आसानी से नहीं चबा पाता है । बाँस वृक्ष के मूल में दीर्घकाल से रही हुई गाँठ अत्यन्त कठोर व दुर्भेद्य होती है ।

कहा जाता है कि रेशम की गाँठ सबसे ज्यादा कठिन होती है । रेशम के धागे की गाँठ खोलना कोई सरल कार्य नहीं है । इसे खोलने में बड़े से बड़े शक्तिशाली व्यक्ति को भी छट्टी का दूध याद आ जाता है । ठीक इसी तरह समझ लीजिये कि आत्मा पर लगे हुए मोहनीय आदि कर्मों की तीव्रता के कारण "राग-द्वेष" की गाँठ बंध जाती है । विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि—

गंठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगांठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ घणराग-द्दोसपरिणामो ॥

—आत्मा के कर्म जनित ऐसे राग-द्वेष के परिणामस्वरूप जो गाँठ बंधती हैं, वह अत्यन्त कठोर, निबिड़, दुर्भेद्य बांस वृक्ष की (सन्धि) गांठ की तरह होती है आत्मा का राग-द्वेष रूप, कर्म जनित, अतिशय मलिन परिणाम रूप यह गाँठ होती

है। वैसे यह ग्रन्थि और कुछ नहीं लेकिन अनन्तानुबन्धी कषायों की चौकड़ी है। यह दीर्घकाल से आत्मा में पड़ी हुई है।

जैसे वस्त्र पर बैलगाड़ी के पहिये का कीट रूप मल (काला दाग) लग जावे और वह भी इतना अधिक गहरा कि वस्त्र फट जावे तो भी न छूटे (इस पर वह काला दाग यदि धूल आदि से दबा हुआ रहे तो पता भी न चले) ठीक इसी तरह आत्मा-प्रदेश रूपी वस्त्र पर तीव्र गाढ़ राग-द्वेष की अत्यन्त मलिन कर्म परिणति रूप कीट के दाग की तरह गाँठ बांधकर, आत्मा के साथ चिपक रहा है; और ऊपर से उस पर कर्म बंध की उत्कृष्ट स्थिति रूपी धूल जम जाने से अनादि काल तक जीव को पता ही नहीं चलता, और वह जीव अनन्तानुबन्धी कषायादि राग-द्वेष की वृत्ति एवं प्रवृत्ति में काल निर्गमन करता रहता है।

यथा प्रवृतिकरण करने का यह लाभ है कि जीव आयुष्य कर्म को छोड़, शेष सातों कर्मों की उत्कृष्ट के बंध स्थितियों का ह्रास करके, इस ग्रन्थि प्रदेश के समीप में आता है। ठीक ही कहा है कि—

अन्तिमकोडाकोडीए सव्वकम्माणमाउवज्जाणं ।
पलियासंखिज्जइमे, भागे खीणे हवइ गंठी ॥

आयुष्य कर्म के सिवाय अन्य सातों कर्मों की अन्तिम कोड़ाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति में से पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का क्षय होने पर जीव ग्रन्थि देश को प्राप्त करता है। ऐसे भयंकर राग-द्वेष की निबिड़ गाढ़ गाँठ को भेदने के लिए जीव को अभूतपूर्व शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। जो जीव शक्ति का प्रयोग करके, विजय पाकर, आगे बढ़ जाय, वह सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। लेकिन सभी जीव समान शक्ति वाले नहीं होते हैं। कई जीव हार मानकर ग्रन्थि भेद का दुर्भेद्य कार्य छोड़कर पुनः लौट भी जाते हैं। इस बात को विशेषावश्यक भाष्य में चींटी एवं पुरुषों के दृष्टान्त से समझाई हैं।

खितिसाभाविगमणं थाणूसरणं तओ समुप्पयणं ।
थाणं थाणुसिरे वा ओरुहणं वा मुइंगाणं ॥
खिइगमणं पिव पडमं थाणूसरणं व करणमपुव्वं ।
उप्पयणं पिव तत्तो जीवाणं करणमनियट्टि ॥

थाणु व्व गंठिदेसे गंठियसत्तस्स तत्थवत्थाणं ।
ओयरणं पिव तत्तो पुणोऽवि कम्मट्ठिइविवुड्ढी ।।

स्वाभाविक गति से चींटियाँ पृथ्वी तल पर इधर-उधर चलती रहती हैं। ते इन्द्रिय कक्षा का यह जीव आँख, कान रहित सिर्फ तीन इन्द्रियों वाला ही है। दिखाई न देते हुए भी चींटी इधर-उधर आती जाती रहती है। कई चींटियाँ वृक्ष के तने (स्तम्भ) पर चढ़ती हैं। कई दीवार के सहारे किले पर चढ़कर उड़ भी जाती हैं। कई किले पर न चढ़ कर वहीं आस-पास घूमती रहती हैं, और किले पर चढ-उतर करती रहती है।

चींटियों की स्वाभाविक गति की तरह, जीव का सहज स्वभाव यथा प्रवृत्ति-करण रूप होता है, किले पर चढ़ने के जैसा अपूर्वकरण होता है, किले पर से उड़ जाने की तरह अनिवृत्तिकरण होता है। इस तरह कई जीव सहज स्वाभाविक यथा-प्रवृत्तिकरण करते हुए किले के समीप आते हैं, दूसरे कई जीव किले पर चढ़ी हुई चींटियों की तरह अपूर्वकरण से ग्रन्थि भेद करते हूए आगे बढ़ते हैं। तथा किले पर न चढ़कर वहीं घूमती हुई चींटी की तरह कई जीव ग्रन्थि देश में पड़े रहते हैं। इसी बात को तीन प्रकार के पुरुषों के दृष्टांत से विशेष स्पष्ट समझा जाता है।

तीन मित्रों को चोर मिले—

जह वा तिन्नि मणूस जनडविपहं सहावगमणेण ।
वेलाइक्कमभीया तुरंति पत्ता यदो चोरा ।।
ददठुं मग्गतडन्थे ते एगो मग्गओ पडिनियत्तो ।
बितियो गहिओ तइओ समइक्कंतो पुरं पत्तो ।।
अडवी भवो मणूसा जीवो कम्मट्ठिई पहो दोहो ।
गंठी य भयत्थाणं राग-दोसा य दो चोरा ।।
भग्गो ठिइपरिवड्ढी गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ ।
सम्मत्तपुरं एवं जोएज्जा तिण्णि करणाइं ।।

तीन मित्र व्यापार करने के लिए विदेश जा रहे थे। चलते-चलते वे एक घने जंगल में पहुँचे। क्रमशः आगे बढ़ते हुए, एक, एक मित्र को मार्ग में दो-दो चोर मिले। पहला मित्र दोनों चोरों को देखकर, वहां से नो-दो-ग्यारह हो गया। दूसरा

मित्र कायरता से चोरों की शरण स्वीकार कर, वहीं बैठ गया। तीसरा मित्र जो साहसी था, उसने चोरों से संघर्ष किया। उसने लड़कर चोरों पर विजय प्राप्त करके, आगे प्रयाण किया और इच्छित स्थान पर पहुँच गया।

इस दृष्टान्त के उपनय में कहते हैं कि घने जंगल के समान यह संसार है। दो चोर राग और द्वेष हैं। चोरों का घने जंगलों में छिपने जैसा ग्रन्थि (गाँठ) प्रदेश है तथा मित्रों की तरह तीन प्रकार के जीव होते हैं—पहले मित्र की तरह कुछ जीव ऐसे होते हैं जो राग-द्वेष की ग्रन्थि की दुर्भेद्य स्थिति को देखकर वापिस लौट आते हैं। दूसरे प्रकार के मित्र के समान कई जीव ऐसे होते हैं जो घबराकर राग-द्वेष की गांठ के शरण होकर, हिम्मत हारकर ग्रन्थि प्रदेश के समीप बैठे रहते हैं। जबकि कुछ भव्य जीव शक्तिशाली, साहसिक, तीसरे मित्र जैसे होते हैं, जो दुर्भेद्य राग-द्वेष की गाँठ को अपूर्वकरण बल से भेद कर, पार उतरते हुए सम्यकत्व को प्राप्त करते हैं। लेकिन ऐसे जीव विरले ही होते हैं।

तीन मित्रों के स्वाभाविक गमन के जैसा, ग्रन्थि प्रदेश के समीप लाने वाला यथाप्रवृत्तिकरण, हिम्मत से संघर्ष करके चोरों को परास्त करने जैसा अपूर्वकरण है, तथा इच्छित स्थान तक पहुँचाने वाला अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त कराने जैसा अनिवृत्तिकरण है।

तीन करणों की आवश्यकता—

करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टिमेव भव्वाणं ।
इयरेसिं पढमं चिथ भन्नइ करणंति परिणामो ॥

मोक्ष प्राप्ति चरम फल है, जबकि तीन प्रकार के करण करना, मोक्ष प्राप्ति हेतु सर्व प्रथम कर्तव्य है। अनादिकालीन गाढ़ मिथ्यात्व में से, मिथ्यात्व की मात्रा कम करती हुई आत्मा मंद, मंदतर मिथ्यात्व में आकर तथाभव्यत्वपरिपक्व से मोक्ष प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होती हुई, प्रथमावस्था में १. यथाप्रवृत्तिकरण, २. अपूर्वकरण, ३. अनिवृत्तिकरण करती है। यहां पर "**करणमिति परिणामो**" करण अर्थात् आत्मा का परिणाम विशेष। परिणाम = आत्मा के अध्यवसाय, भाव या विचार आदि।

अनादिकालीन कर्म क्षयार्थ प्रवर्तमान आत्मा के अध्यवसाय, परिणाम विशेष को पहला यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं, जिसमें कर्म बंध की उत्कृष्ट स्थितियों का घात करते, अतः कोड़ाकोड़ी सागरोपम की करके आत्मा को ग्रन्थि प्रदेश के समीप लाने का काम होता है। इसके बाद कभी भी जिस शक्ति का प्रयोग नहीं किया हो ऐसी अपूर्वअभूतपूर्व आत्मिक शक्ति का प्रयोग करके स्थिति घात, रसघात आदि करने के अध्यवसायपरिणाम विशेष को अपूर्वकरण कहते है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने तक परिणाम पुनः न गिर जावे अर्थात् निवृत्ति न हो जावे, ऐसे आत्मा के अध्यवसाय विशेष को अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

उपरोक्त तीनों ही आत्मिक अध्यवसाय (परिणाम) रूप करण क्रमशः अधिक-अधिक विशुद्ध-विशुद्धतर होते हैं। इन तीन करणों में से अभव्य जीव को मात्र पहला करण ही होता है। वह कदापि उससे आगे नहीं बढ़ पाता है, जबकि भव्य जीवों के लिए तीनों करण आगे बढ़ने में अनिवार्य होते हैं। तीनों करण कब और कहाँ किये जाते हैं, इस विषय में लिखते हैं कि—

जा गंठी ता पढमं गंठि समइच्छाओ अपुव्वं तु।
अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जोवे ॥

१. ग्रन्थि स्थान पर्यन्त आगमन पूर्व पहला यथाप्रवृतिकरण किया जाता है।

२. ग्रन्थि भेद करते समय अपूर्वकरण नाम का दूसरा करण होता है।

इसमें ग्रन्थि भेद करके अर्थात् राग-द्वेष की गांठ का छेदन करके जीव सम्यक्त्वाभिमुख होता है।

३. इसके आगे अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसायरूप तीसरा अनिवृत्तिकरण, करके जीव तुरन्त सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है।

२. अपूर्वकरण—

अपूर्व "**न पूर्वमित्यपूर्वम्**" पूर्व अर्थात् पहले कभी भी नहीं किया है, ऐसा आत्मिक अध्यवसाय रूप शक्ति का प्रयोग करना, इसे अपूर्वकरण कहते हैं अर्थात् अनादिकाल के अनन्त पुद्गल परावर्तकाल तक के संसार परिभ्रमण में जिसका प्रयोग जीव ने पूर्व में कभी भी नहीं किया था, ऐसे शुभ प्रशस्त आत्मिक अध्वसाय रूप

शक्ति का अभूतपूर्व प्रयोग करके राग-द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि का छेदन-भेदन करना यह अपूर्वकरण कहलाता है। यह अपूर्वकरण पहले यथा प्रवृत्तिकरण की अपेक्षा ज्यादा शुद्धत्तर-विशुद्ध कक्षा का है।

पूर्व प्रवृत्ति विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण करने वाला भव्य जीव ही इस अपूर्वकरण को कर सकता है। यह अपूर्वकरण यथा प्रवृत्तिकरण का कार्य हुआ, जबकि यह आगे के तीसरे अनिवृत्तिकरण का कारण होता है। एकेंद्रिय से चउरेन्द्रिय तक के चींटी, मकोड़े, मक्खी, मच्छर आदि विकलेन्द्रिय जीवों तक के लधु जीव इसके अधिकारी ही नहीं है। पंचेन्द्रिय जीव उसमें भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, ही इसे करने वाले अधिकारी बनते हैं। उसमें भी सभी पंचेन्द्रिय नहीं लेकिन मात्र वे ही, जिसका मोक्ष प्राप्ति का समय अर्द्ध पुद्‌गल परावर्तकाल ही शेष रहा हो, ऐसा तथाभव्यत्व जिसका परिपक्व हुआ है, ऐसा भव्य जीव ही अपूर्वकरण करने का सच्चा अधिकारी होता है।

राग-द्वेष को निबिड़ ग्रन्थि का भेदन करने में ऐसा भव्य जीव. इस अपूर्व-करण का उपयोग शस्त्र के रूप में करता हैं। अतः ग्रन्थिभेद यह अपूर्वकरण की क्रिया का फल है। अनादिकालीन अनन्त पुद्‌गल परावर्तकाल में वीते अनन्त भवों में, जीव ने ऐसा जो कभी नहीं किया था, वह ग्रन्थि भेद का कार्य "अपूर्वकरण क्रिया से आज प्रथम बार ही किया है।

इस अपूर्वकरण में पाँच वस्तुएँ अपूर्व प्रकार की होती है—

(१) अपूर्व स्थिति धात।

(२) अपूर्व रस घात।

(३) अपूर्व गुण श्रेणी।

(४) अपूर्व गुण संक्रमण।

(५) अपूर्व स्थिति बंध।

(१) जैसा कि जीव ने पूर्व में कभी भी नहीं किया है, ऐसा कर्म बन्ध की स्थितियों का घात इसमें करता है। यथा प्रवृत्तिकरण करके जीव कर्म बंध की उत्कृष्ट स्थितियों का घात करके उनकी अंततः कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति

करता था। उसमें अपूर्वकरण से, और कम करके, शुरू अध्यवसाय से संख्यात भाग जितनी ही काल-स्थिति रह जाती है। इसे **अपूर्व स्थिति घात** कहते हैं।

(२) अशुभ कर्मों में रहे हुए उग्र रस को मंद बनाने रूप रस घात का कार्य **अपूर्व रस घात** कहलाता है।

(३) गुण अर्थात् असंख्य गुणाकार और श्रेणी, अर्थात् कर्म दल की रचना करने, रूप क्रम या पंक्ति। स्थिति घात में बताए हुए, स्थिति में से प्रति समय जिन कर्म दलिकों को नीचे उतारता है, उन्हें उदय समय से लेकर अंतर्मुहूर्त तक के स्थिति स्थानों असंख्य गुण के क्रम से सुव्यवस्थित करता है। ऐसी कर्म दलिक रचना को **अपूर्व गुण श्रेणी** कहते हैं।

असंख्यात गुण असंख्यात गुण चढ़ते क्रम से अशुभ कर्म दलिकों का नये बंधाते हुए शुभ कर्मों में संक्रमण करना, अर्थात् अशुभ को शुभ में परिवर्तित करना। प्रति समय असंख्य गुण बनता जाय, उसे **अपूर्व गुण संक्रमण** कहते हैं। यहां आयुष्य के अतिरिक्त सात कर्मों का गुण संक्रमण होता है।

(५) अपूर्व स्थिति बंध में अन्तर्मुहूर्त में नए कर्म बंध की काल स्थिति पल्योपम के संख्यातवें भाग जितनी न्यूनतम होती है। अध्यवसाय की विशुद्धि पर कर्म बंध स्थिति अल्प होती है।

सारांश यह है कि अपूर्वकरण के समय शुभ अध्यवसाय प्रति समय चढ़ते क्रम के होते हैं। अतः समय-समय पर उपरोक्त पांचों ही अपूर्वकरण चढ़ते क्रम में होते हैं।

इस तरह के उपरोक्त पांचों ही अपूर्व स्थिति घातादि जो अनादि भूतकाल में कभी भी नहीं हुए थे, और आज अपूर्व अर्थात् अभूतपूर्व रूप से होते हैं। अतः यह अपूर्वकरण कहलाता है। यह वीर्योल्लास रूप अपूर्वकरण अतर्मुहूर्त ही रहता है।

पहले किया गया यथाप्रवृत्तिकरण नामक प्रथम करण अंक रहित शून्य जैसा है, जबकि अपूर्वकरण होते ही शून्य के पूर्व में १ से ९ तक अंक लग जाते हैं। इससे सभी शून्यों की कीमत हजार लाख आदि बड़ी से बड़ी संख्या बन जाती है। वैसे ही यदि अपूर्वकरण न हो तो मात्र यथाप्रवृत्तिकरण की कीमत शून्य जैसी होती है।

लेकिन अपूर्वकरण होते ही दोनों की कीमत अनेक गुणा बढ़ जाती है। यद्यपि यथा प्रवृत्तिकरण में आत्मा की निर्मलता के विकास का प्रारम्भ अवश्य होता है लेकिन विशेष प्रकार की निर्मलता, विमलता तो अपूर्वकरण में ही होता है।

अनिवृत्तिकरण—

अप्पुव्वेणं तिपुंजं मिच्छत्तं कुणइ कोद्दवोवमया।
अनियट्टीकरणेण उ सो सम्मद्दंसणं लहइ ॥

जीव अपूर्वकरण के द्वारा कोदरा आदि धान्य के समान मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है परन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति तो अनिवृत्तिकरण के बाद होती है।

अ + निवृत्ति = अनिवृत्ति। अर्थात् जो निवृत्त न हो, वह अनिवृत्त।
अनिवृत्ति + करण = अनिवृत्तिकरण।

आत्मा का ऐसा विशुद्ध अध्यवसाय विशेष रूप करण जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति किए बिना जीव निवृत्त नहीं होता है, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अपूर्वकरण मे जीव ग्रन्थि भेद करके आगे बढ़ता है, और अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व प्राप्त करके स्थिर होता है। अत: सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना, पुन: पीछे न हटने की प्रतिज्ञारूप आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय रूप संकल्प अनिवृत्तिकरण है। यह अपूर्वकरण का कार्य है। इसका समय अंतर्मुहूर्त प्रमाणकाल है। यह चरम अर्थात् अन्तिम करण है। इसमें जीव कार्य करता है।

मिथ्यात्व के दो भाग करके अन्तःकरण करता है। इसमें से छोटे पुंज रूप मिथ्यात्व मोहनीय कर्म दलिकों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय करता है, उसी क्षण उसे उपशम नामक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसका नाम अन्तःकरण है। इस तरह अनिवृत्तिकरण के बल पर अन्तःकरण करते हुए जब निष्ठाकाल का अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब सर्वप्रथम मिथ्यात्व अटकता है, क्योंकि पहले ही मिथ्यात्व के दलिकों को वहाँ से नष्ट कर दिया हैं। अत: यहां मिथ्यात्व के उपशम से उपशम भाव द्वारा उत्पन्न होता हुआ, सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ का अनुदय अर्थात् उपशम होता है, और उपशम भाव द्वारा उत्पन्न होता हुआ सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। जब जीव अनिवृत्तिकरण करता है, तब अनादि के अज्ञान का अन्त आता है।

अनादिकाल के अज्ञान दूर होते ही सम्यग् परिणति रूप सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इससे संसार परिणति का अन्त आता है। जिस तरह दावानाल जलता-जलता, ऊपर भूमि प्रदेश में आते ही, शान्त हो जाता है, वैसे ही अनादि संसार का अज्ञान एवं मिथ्यात्व अनिवृत्तिकरण के अन्तः करण के फलरूप शुद्ध-सम्यक्त्व प्राप्ति के पास आते ही दूर हो जाता है।

उपरोक्त यथा प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण—तीनों करण के माध्यम से जीव अपनी विकास यात्रा का शुभारम्भ करता हुआ, प्रथम सोपान चढ़ता है, यद्यपि यह सारा कार्य मिथ्यात्व नामक प्रथम गुण स्थानक में होता है। इसके बाद जीव सीधा सम्यक्त्व के **चौथे गुण स्थानक पर जाता है।**

अनादि मिथ्यात्व को तोड़कर, व निबिड़ राग-द्वेष की ग्रन्थि को भेद कर, जीव जब प्रथम बार सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, तब उसे कितना आनन्द होता है, यह अवर्णनीय है।

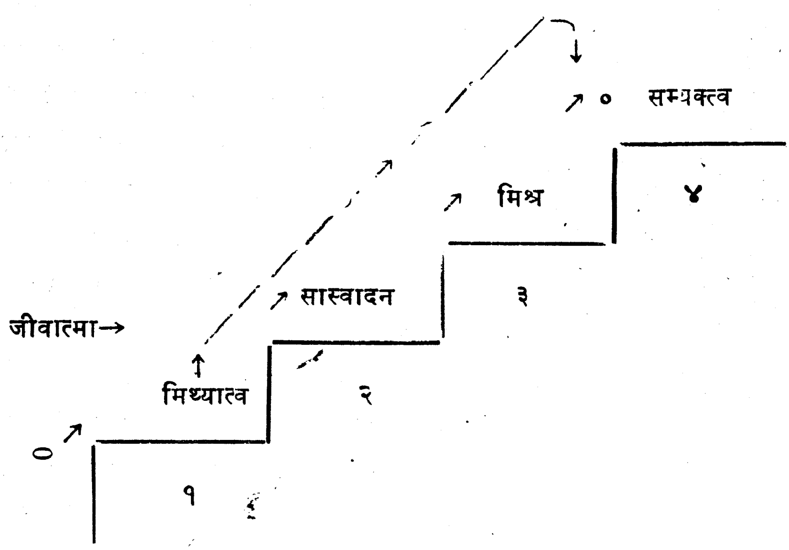

यह गुण स्थान आरोहण का क्रम हैं। जीवात्मा सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए इस क्रम से आगे बढ़ती है। सर्वप्रथम पहले मिथ्यात्व नामक गुणस्थानक पर जीव यथाप्रवृत्तिकरण आदि करण करता है और अशुद्ध पुञ्जों को शुद्ध करके आगे बढ़ता

है। सम्यक्त्व प्राप्ति की सही दिशा में आगे बढ़ने के लिए राग-द्वेष की ग्रन्थि का भेदन, अपूर्वकरण की प्रक्रिया द्वारा, करके प्रथम मिथ्यात्व नामक गुणस्थान की जेल से मुक्त होकर, सीधा ही चौथे अविरत सम्यक्दृष्टि नामक गुणस्थान पर पहुँचता है। सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव चौथे गुणस्थान पर आरूढ़ हो जाता है। यद्यपि यह गुणस्थान अविरत है, फिर भी यहां सम्यक् श्रद्धा की कक्षा पूर्ण है। जीव की सच्ची श्रद्धा में कोई कमी नहीं है। अनन्त काल के परिभ्रमण में जीव ने ऐसी सिद्धि, जो पहले कभी भी प्राप्त नहीं की थी, उस सिद्धि को प्राप्त करता है। सर्व प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त करने का जीव को अनहद, अवर्णनीय आनन्द होता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति का अद्भुत आनन्द—

तया च भिन्ने दुर्भेदे कर्मग्रन्थिमहाबले।
तीक्ष्णेन भाववज्रेण बहुसङ्क्लेशकारिणी ॥

योग बिन्दु में कहते हैं कि अपूर्वकरण रूप तीक्ष्ण भाव वज्र द्वारा दुर्भेद्य महाकष्ट से विदारणीय ऐसी राग-द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि को भेदकर, जीव जब आगे बढ़ता है तब उसे अत्यन्त आनन्द होता है। वह आनन्द वास्तव में अनुपम, अद्भुत एवं अभूतपूर्व होता है। वह आनन्द अवर्णनीय होता है।

स्वाभाविक है कि अनादिकाल के महामिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषाय आदि में जीव ने जो वास्तविक आनन्द कभी भी प्राप्त नहीं किया, ऐसा आनन्द आज सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह अनुभव कर रहा है। तेज गरमी की ऋतु में जब सूर्य के प्रखर ताप से भयंकर गरमी पड़ रही हो, और ऐसे में निर्जन वन में चलता हुआ कोई मुसाफिर गर्मी व पसीने से आक्रान्त हो चुका हो, और उसे एकाएक निबिड़ वृक्ष की छाया मिल जावे, साथ ही पानी भी मिल जावे, तो उसे कितना आनन्द होगा? यदि उसकी सेवा में और वृद्धि होती जावे तो उसके आनन्द में भी वृद्धि होती जावेगी। ठीक इसी तरह अनादिकालीन संसाररूप जो वन अटवी है, उसमें ऋतु परिवर्तन की तरह जन्म-मरण के दुःख होते ही रहे, और उसमें मिथ्यात्व और कषाय के ताप से तप्त हुए तृष्णा रूपी तृषा से पीड़ित ऐसे भव्य जीव रूपी मुसाफिर को, अनिवृत्तिकरण रूपी शीतल वृक्ष की छाया मिलते ही, वह सम्यक्त्व रूपी शीतलता की प्राप्ति से अनहद आनन्द प्राप्त करता है। यह प्रथम बार ही उसे

प्राप्त होने के कारण अवर्णनीय होता है। इसी बात को योगबिन्दु में एक अलग दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
सद्व्याध्यभिभवे यद्वद् व्याधितस्य महौषधात्॥

—ग्रन्थि भेद किए हुए को, सम्यक्त्व प्राप्त होते ही, प्रशस्त भाववंत महात्मा को, तात्विक आनन्द-प्रमोद प्राप्त होता है।

उदाहरण के लिए समझ लीजिए कि महाकुष्ट रोग की व्याधि से तप्त व्याकुल हुए, रोगी को शीतोपचार आदि, किसी औषधि विशेष से अचानक चमत्का की तरह रोग शान्त होते ही, रोगी को जैसा आनन्द होता है, वैसा ही अनादि संसार के मिथ्यात्व रोग के तीनों करण रूप महौषधि से मिथ्यात्व की निवृत्तिपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव को पारमार्थिक परम आनन्द होता है।

आत्मा के अपूर्व वीर्योल्लास के प्रताप से ग्रन्थि भेद होकर, मिथ्यात्व तिमि दूर होते ही, सम्यक्त्व रूप सूर्योदय से प्रकाश फैल जाता है। वह आनन्द अनुपम ह होता है।

उपरोक्त दृष्टान्त भी उपमा देने में स्थूल-कक्षा के होने से छोटे पड़ते हैं अतः हरिभद्रसूरी हमें एक बहुत अच्छा दृष्टान्त देते हैं।

जात्यन्धस्य यथा पुंस-श्चक्षुर्लाभे शुभोदये।
सद्दर्शनं तथैवाऽस्य ग्रन्थिभेदेऽपदे जगुः॥

जन्म से ही अन्ध, ऐसे जन्मान्ध पुरुष को जिसने जीवन में कभी रूप, रंग, प्रकाश आदि की दुनियां देखी ही न हो, और योगानुयोग, अचानक कि दैवी चमत्कार वश आँखें खुल जाने पर सब कुछ दिखाई देते समय जो आनन्द अनुभूति होती है, वह अपूर्व, अनुपम होती है। ठीक इसी तरह अनन्त पुद्ग परावर्तकाल में, अनन्त जन्म तक, अनादि मिथ्यात्व के कारण, जिसके सम्यग् दर्श रूप नयनयुगल नष्ट हो चुके थे, जो वर्षों से सत्य तत्व को देख ही नहीं सका थ ऐसे भवाभिनन्दी जीव को योगानुयोग तथा भव्यत्व परिपक्व होने पर, अपूर्वकरणा तीनों करण की सहायता से, ग्रन्थि भेद होने पर, सम्यग् दृष्टि रूपी जो नेत्रोन्मिल

होता है, उससे मिथ्यात्व तिमिर नाश रूपी, जो यथार्थ सत्य तत्त्व का जो श्रद्धान् होता है, उसका आनन्द जन्मान्ध की अपेक्षा भी अनेक गुना होता है। ऐसे अनेक दृष्टान्त शास्त्रों से बताए गए हैं।

एक अन्य दृष्टान्त ऐसा भी है कि सशक्त शक्तिमान योद्धा भी भयंकर संग्राम में युद्ध करते-करते अन्त में हारने की स्थिति में, घोर निराशा के सागर में डूब जाता है। ऐसे में योगानुयोग अन्तिम क्षण में तीर के सही निशाने पर लगने से, शत्रु राजा की मृत्यु होते ही, उसे युद्ध में विजय रूपी जो आनन्द का अनुभव होता है, उससे भी अनेक गुणा आनन्द, भव्य जीव को संसार संग्राम में मोहनीय कर्म की प्रकृति रूपी सेना के साथ युद्ध करते करते हारने के अन्तिम क्षण में अपूर्वकरण आदि योगों से राग-द्वेष की ग्रन्थि का भेद करके, मानो दुश्मन के दुर्भेद्य किले को भेदकर विजय प्राप्त करता है। उसी तरह ग्रन्थि भेद करने रूपी दर्शन मोहनीय एवं अनन्तानुबंधी कषाय आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का भेद करके, सम्यक्त्व प्राप्ति के विजय से जो आनन्द होता है, वह जीवन का प्रथम आनन्द होता है।

इस प्रकार के कई दृष्टान्त शास्त्रों में दिये गये हैं। यद्यपि ये दृष्टान्त सर्व आंशिक तुलना भी नहीं कर सकते हैं, फिर भी उस आनन्द को समझने के लिए अनुमान जन्य स्थिति का परिचय करा सकते हैं। स्वाभाविक है कि अनादिकाल से जिस जीव ने जिस सम्यक्त्व को कभी प्राप्त नहीं किया था, उसे उस प्रकार के सम्यक्त्व को प्राप्त करके, सदा के लिए संसार से मुक्त होकर, मैं मोक्ष में एक दिन निश्चित ही जाऊँगा, इस प्रकार के दृढ़ संकल्प से उसे अभूतपूर्व आनन्द होता है।

सर्व प्रथम जीव कौनसा सम्यक्त्व प्राप्त करता है ? इसके बारे में शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्ति आदि तीन करणों के द्वारा सर्वप्रथम औपशमिक प्रकार का सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

कोई जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी प्राप्त करता है। सिद्धान्तकारों का मत है कि मिथ्यात्व गुण स्थानक से जीव सीधे चौथे, अविरत सम्यक् दृष्टि गुण स्थानक पर आता है। यद्यपि चौथे गुण स्थानक पर व्रत, विरति, पचक्खाण न होते हुए भी उसकी श्रद्धा सम्यग् होती है।

सम्यक्त्व प्राप्ति के दो प्रकार—

"तन्निसर्गादधिगमाद् वा"

[१/३]

निसर्गाद्वाऽधिगमतो, जायते तच्च पंचधा।
मिथ्यात्वपरिहाण्यैव, पंचलक्षणलक्षितम् ॥

[धर्मसंग्रह–२२]

```
                    सम्यक्त्व प्राप्ति
                           |
        ---------------------------------------
        |                                     |
    निसर्ग से                              अधिगम से
```

निसर्ग = अर्थात् बिना किसी निमित्त के, स्वाभाविक, सहज रूप से।

निसर्ग से—तीर्थंकर भगवान, गुरु उपदेश आदि किसी भी प्रकार का निमित्त न प्राप्त होते हुए भी जो जीव स्वयं सहज, स्वाभाविक भाव से तथा भव्यत्वादि प्राप्त करके यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण आदि करण करता हुआ, अंतरंग विशुद्धि एवं अध्यवसाय शुद्धि के आधार पर जो जीव नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक प्रक्रिया से सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अंतरंग और बाह्य दो निमित्तों से होती है। अतः निसर्ग यह अंतरंग निमित्त है, और अधिगम यह बाह्य निमित्तजन्य है।

निसर्ग और अधिगम ये दोनों सम्यक्त्व के प्रकार नहीं है, लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया के मात्र दो मार्ग हैं। जीव विशेष की योग्यता विशेष, परिपक्वत्व होने पर, किसी देव-गुरु आदि के उपदेश के अभाव में भी, वह नैसर्गिक रूप से अंतरंग विशुद्धि के आधार पर, तीनों करण करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं।

(२) **अधिगम सम्यक्त्व**—अधिगम अर्थात् तीर्थंकर, गुरु आदि के उपदेश रूप बाह्य निमित्त।

इसमें देव-गुरु के उपदेश, धर्मोपदेश, जिन प्रतिमा दर्शन-पूजन, जिनागम प्रवचन श्रवण, आदि बाह्य निमित्तों की प्रधानता रहती है। इन प्रेरक निमित्तों से जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता हो, उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं। ऐसा सम्यक्त्व चा

बाह्य निमित्त से हो या बिना बाह्य निमित्त के हो, दोनों ही प्रकार में प्रधान (मुख्य) अंतरंग निमित्त है ।

अंतरंग निमित्त की शुद्धता के बिना, बाह्य निमित्तादि मिलने पर भी, सम्यक्त्व नहीं होता है । इसलिए अंतरंग निमित्त की शुद्धता परम आवश्यक है । बाह्य निमित्त रूप देव-गुरु धर्मोपदेश आदि की प्राप्ति भी अंतरंग निमित्त को शुद्ध या जागृत करने में सहायक बनती है । इस तरह अनादि मिथ्या दृष्टि जीव बाह्य निमित्त के सद्भाव या अभाव में, निसर्ग या अधिगम दोनों ही मार्ग से सम्यक्त्व प्राप्त करता है । दोनों ही तरह से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है । बाह्य निमित्त द्वारा जो अंतरंग निमित्त प्रकट होता है, उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं । लेकिन दोनों में ही जीव का भव्यत्व परिपक्व होना मुख्य आधार है ।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि का कार्य ही उपरोक्त— १. निसर्ग, २. अधिगम द्वारा होता है । अतः सम्यक्त्व की प्राप्ति निसर्ग और अधिगम दो प्रकार से होती है । जब जंगल में लगा हुआ दावानल बढ़ते-बढ़ते, ऊसर भूमि तक पहुँचते ही, अपने आप (स्वमेव) शान्त हो जाता है, तब दावानल की शान्ति में कोई बाह्य निमित्त नहीं है । ठीक इसी तरह अनादि मिथ्यादृष्टि जीव में जो मिथ्यात्व अनादिकाल से चला आ रहा है, वह मिथ्यात्व तथा भव्यत्व परिपक्व होने पर, यथा प्रवृत्ति आदि तीनों करण करते हुए, ग्रंथि भेद करके जो सहज स्वाभाविक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे बाह्य निमित्त भाव रूप नैसर्गिक-निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं । लेकिन जंगल का वही दावानल यदि किसी के द्वारा पानी, रेत, धूल आदि डालकर बुझा दिया जावे, ठीक इसी तरह किसी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व को देव-गुरु धर्मोपदेश की वाणी रूपी पानी से शान्त कर दिया जाय और मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम या क्षयोपशम से जो औपशमिक या क्षायोशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे बाह्यनिमित्त सद्भावरूप अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं ।

सम्यक्त्व प्राप्ति का महाफल—

अनन्त पुद्गल परावर्तकाल के परिभ्रमण में अनादिकाल के इस संसार में मिथ्यादृष्टि जीव ने जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया था, तब तक उसका संसार

असीमित एवं अनन्त था, लेकिन जब जीव ने यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करणों के महापुरुषार्थ से सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त किया, तभी से मानो उसके भव संसार में सूर्योदय हुआ हो। सम्यक्त्व रूपी सूर्योदय से उसके जीवन में मानो ज्ञान का प्रकाश फैला हो। अब उसके सामने देव-गुरु-धर्म तथा जीवादि तत्व सही अर्थ में दिखाई देने लगे। जैसे छोटे बालक को पाठशाला में प्रवेश कराते और नाम लिखाते समय, माता-पिता आदि बालक के भविष्य के प्रति आशान्वित होते हैं कि हमारा बालक एक दिन पढ़ लिखकर डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, प्रोफेसर आदि बनेगा। वे ऐसे भावी सपने बालक के विद्यालय में प्रवेश के प्रथम दिवस से ही देखने लगते हैं। खेत में बीज बोते समय ही किसान उत्तम फसल और उससे प्राप्त होने वाले भावी फल की प्राप्ति का विचार करके, मन में अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। ठीक इसी तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति का बीज रूप है। जिस तरह बीज के बिना वृक्ष की कल्पना करना असंभव है, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना मोक्ष प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं हैं। सम्यक्त्व की प्राप्ति होना, याने भव्य जीव के संसार रूपी खेत में मोक्ष रूपी बीज का वपन (बोया जाना) है। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि सम्यक्त्व प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति की पूर्व भूमिका है। प्राथमिक कक्षा में सम्यक्त्व प्राप्ति रूपी नामांकन से जीव भावी में मोक्ष प्राप्ति रूप सिद्धावस्था की उपाधि प्राप्त करता है; या इस तरह कहिए कि मोक्ष रूपी रस्सी का प्रथम सिरा (किनारा) सम्यक्त्व है, तो आगे बढ़ती हुई उसी रस्सी का अन्तिम सिरा मोक्ष का है।

मोक्ष रूपी किसी सीढ़ी का प्रथम सोपान सम्यक्त्व है तो अन्तिम सोपान मोक्ष है। अतः मोक्ष की मंजिल पाने वालों को सम्यक्त्व के प्रथम सोपान पर चढ़ने से ही अपनी मोक्ष-यात्रा प्रारम्भ करनी पड़ती है। अतः ज्ञानी महापुरुषों ने कहा है कि—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

[१–१]

इस सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र को मोक्ष मार्ग बताया है। इस मार्ग का प्रारम्भ सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है और अन्त मोक्ष प्राप्ति में है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मिलकर मोक्ष का मार्ग बनता है।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गइं ।।
(उत्तरा–३)

ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप का सम्यग् मार्ग प्राप्त करके जीव मोक्ष रूपी सद्गति प्राप्त करता है ।

ऐसा सम्यक्त्व प्रथम बार प्राप्त होते ही सबसे बड़ा लाभ यह है कि उस जीव का मोक्ष उसी समय निश्चित हो जाता है । ऐसा निश्चित हो जाता है कि यह जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा । इसमें कोई सन्देह नहीं; भले ही काल का अन्तर हो । इसलिए सम्यक्त्व और मोक्ष मार्ग के बीच अविनाभाव (परस्पर-पूरक) सम्बन्ध जोड़कर यह कह सकते हैं कि जो-जो सम्यक्त्व पाएगा, वह मोक्ष में अवश्य जावेगा, तथा जो मोक्ष में जावेगा वह अवश्यमेव सम्यक्त्व प्राप्त किया हुआ होगा । यह सम्बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसे दिन होगा तो सूर्य होगा ही, व सूर्य है तो वहां दिन अवश्यमेव होगा । इस कथन को हम इस रूप में कह सकते हैं कि दोनों एक दूसरे के साथ ही होते हैं ।

अतः सूर्य होने पर दिन और दिन होने पर सूर्य निश्चित ही होगा । ठीक इसी तरह सम्यक्त्वी को मोक्ष अवश्य होगा । और जिसे मोक्ष होगा वह सम्यक्त्वी निश्चित होगा । अतः सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्ति का लाइसेंस या सर्टीफिकेट (प्रमाण) है ।

अब रहा प्रश्न बीच में सिर्फ काल (समय) का । सम्यक्त्व पाने के कितने समय बाद जीव मोक्ष पाएगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—

अन्तोमुहुत्तमित्तं पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवड्ढ पुग्गल परियट्टो चेव संसारो ।।
[नवतत्त्व–५३]

ऐसा सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी = ४८ मिनिट) मात्र काल भी जिसे स्पर्श या प्राप्त हुआ हो, वह जीव अवश्य ही अर्धपुद्गल परावर्त परिमित काल में मोक्ष प्राप्त करता है; अर्थात सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद अर्धपुद्गल-

परावर्तकाल ही संसार शेष रहता है। जब तक जीव ने सम्यक्त्व नहीं पाया था, तब तक जीव ने अनन्त पुद्‌गल परावर्तकाल का संसार बिताया था। ऐसे अनन्त के सामने अब मात्र अर्धपुद्‌गल परावर्तकाल ही शेष बचा है। यह कितने आनन्द की बात है? एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी दोनों मिलकर एक कालचक्र बनता है, और अनन्त काल चक्र का एक पुद्‌गल परावर्तकाल बनता है। ऐसे अनन्त पुद्‌गलपरावर्तकाल का संसार जीव ने सम्यक्त्व के अभाव में, मिथ्यादशा में बिताया है। अब सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद वह काल अनन्त का न रहकर सिर्फ अर्धपुद्‌गलपरावर्त ही शेष रहा है।

इसे ऐसे समझिये कि मानो एक लाख योजन ऊंचे सुमेरु का मात्र कुछ कंकड़ शेष रहता है। या अगाध महासमुद्र सूखकर एक लघु खड्डा पानी रह जाता है। यहाँ कुछ कंकड़ और एक लघु खड्डा पानी सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद शेष रहा, अल्पकाल को समझाने के लिए रूपक अर्थ में हैं, दृष्टान्त रूप है।

मानो कोई मुसाफिर महासमुद्र को तैरकर यात्रा करता हो, वह वर्षों तक तैरते-तैरते थककर क्लांत हो चुका हो, और उसे किनारा सामने दिखाई देते ही, शेष रहे अल्प अन्तर को देखकर वह जितना प्रसन्न होता है, उसी तरह संसार यात्रा का मुसाफिर, मिथ्यादृष्टि भव्य जीव, मिथ्यात्व के महासमुद्र में अनन्त पुद्‌गल परावर्तकाल तक परिभ्रमण करके, थककर क्लांत होने पर तथा भव्यत्व के परिपक्व से यथाप्रवृतिकरण आदि तीनों करण करके ग्रन्थि भेद से सम्यक्त्व प्राप्त करके, जब मोक्षमार्ग पर आकर सामने देखता है, तब समुद्र यात्री को किनारा दिखाई देने के समान, सम्यक्त्वी जीव को मोक्ष का क्षितिज सामने दिखाई देता है। इस अनन्त दुःख रूप संसार से मुक्त होकर अवश्य ही मैं मोक्ष में जाऊँगा। इस आभास मात्र से उसे कितना आनन्द प्राप्त होता होगा? यह अकल्पनीय होकर अवर्णनीय है।

इस तरह अनन्त पुद्‌गलपरावर्तकाल की तुलना में शेष बचा हुआ मात्र अर्धपुद्‌गल परावर्तकाल का अन्तिम संसार सम्यक्त्वी जीव के लिए बहुत अल्पकाल अवधि है।

अतः वह अनुपम आनन्द एवं सुखानुभूति करता है। भले ही अर्धपुद्‌गलपरावर्त का काल असंख्य भव भी हो, फिर भी सम्यक्त्वी जीव को अनुपम आनन्द

है क्योंकि अनन्त के सामने अब काल या भव की यह संख्या मात्र संख्यात् या असंख्यात् रूप में ही अवशिष्ट रही है। यह बड़ी खुशी की बात है क्योंकि भूतकाल में बीते हुए अनन्त काल के सामने अवशेष या अवशिष्ट काल या भव की संख्या बीते हुए भव या काल के संख्या के मात्र अनन्तवें भाग ही शेष हैं, यह जानकर जीव को अत्यन्त खुशी है। अतः आगामी अर्धपुद्गलपरावर्त काल में संख्यात् या असंख्यात वर्ष या भव भी बिताने पड़े तो भी वे अनन्त नहीं है, और मोक्ष निश्चित एवं सामने है, यह जानकर सम्यक्त्वी जीव का आनन्द अद्भुत एवं अनुपम है। शास्त्रकार महर्षि यहाँ तक कहते हैं कि—

सम्मदिट्ठि जीवो, गच्छइ नियमा विमाणवासिसु।
जइ न विगयसम्मत्तो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं॥
जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तम्मि सद्दहणा।
सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं॥
[धर्मसंग्रह–२–३]

—सम्यग्दृष्टि जीव ने यदि सम्यक्त्व प्राप्ति के पहले, परभव का आयुष्य न बांधा हो और सम्यक्त्व का वमन न हुआ हो तो (अर्थात् सम्यक्त्वावस्था में यदि आयुष्य कर्म बांधे तो) निश्चित रूप से वैमानिक देवगति में ही जाता है। वैमानिक देवगति यह अन्य सभी गति को अपेक्षा उच्च सुख की श्रेष्ठ गति है।

दूध में शक्कर या सोने में सुगन्ध मिलाने के समान, यदि सम्यग् दर्शन के साथ-साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल व भाव आश्रयादि, जब जब जितना शुभ धर्मानुष्ठान करना शक्य (संभव) हो, उतना यदि साथ करता जाय, जिसमें विशेष ज्ञान, चारित्र, तपादि की साधना हो, उसे करता रहे, और अशक्य के प्रति यथा शक्ति करने की सद्दहणा-श्रद्धा पूरी बनाए रखे, और सम्यक्त्वपूर्वक आगे की साधना एवं भावना बनाये रखने वाला ऐसा श्रद्धावान् सम्यक्त्वी जीव अवश्य ही अल्पकाल या भवों में अजर-अमर पद मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करता है। यह सम्यक्त्व प्राप्ति का महाफल है।

सम्यक्त्व प्राप्ति से ही भव संख्या का निर्णय—

शास्त्रों में ऐसा नियम बताया गया है कि जब से जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है तभी से उसके भवों की गणना की जाती है। जब मोक्ष प्राप्त करता है, तब तक

के भवों की गिनती की जाती है। तात्पर्य यह कि सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष गमन तक के भवों की गणना प्रधान रूप से होती है। यही गणना संभव है। लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व का काल जो अनादि मिथ्यात्व का था, उस काल की गणना एवं उस मिथ्यात्व के काल में हुए भवों की गणना करना कदापि सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि अनादि मिथ्यादशा में काल भी अनन्त बीता और भव भी अनन्त बीते हैं। एक तरफ तो दोनों की संख्या अनन्त की है और दूसरी तरफ से अनादि है। अतः ऐसे अनादि, अनन्त संसार काल एवं भवगणना की संख्या में गणना करना असंभव सा है। साथ ही निरर्थक भी है। इसलिए शास्त्र का यह नियम सही है कि भवों की गणना सम्यक्त्व प्राप्ति से की जाती है, और मोक्ष गमन तक के अन्तिम भव तक के भवों की गणना की जाती है। इसी नियम के आधार पर चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के २७ भवों का होना आगम में वर्णित है, यद्यपि भगवान महावीर स्वामी के अनन्त भव संसार हुए हैं, न कि केवल २७ भव। सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व-काल में भगवान महावीर की आत्मा भी अनन्त पुद्गल परावर्तकाल के अनादि अनन्त संसार में चार गति एवं पांच जाति के ८४ लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करती हुई, अनन्त भव कर चुकी थी। ये अनन्त भव (जन्म) अनादि मिथ्यात्व की कक्षा में हुए थे। अतः इनकी गणना व्यर्थ होने से नहीं की गई है। लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्षगमन तक के भवों की गणना की गई है, वह २७ भवों की हैं।

भगवान महावीर की आत्मा ने प्रथम भव-नयसार के रूप में पूर्व में बताई हुई प्रक्रिया से सम्यक्त्व प्राप्त किया था। उन्होंने अधिगम मार्ग से साधु-मुनि महाराज के उपदेश से सम्यक्त्व पाया था।

नयसार के रूप में प्रथम भव में जो सम्यक्त्व के बीज बोए गए थे, वे ही अंकुरित एवं पल्लवित होते हुए आगामी भवों में फलदायी बने। अतः २७ वें भव में वे मोक्ष में गए।

इसी तरह प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की आत्मा धनसार्थवाह के प्रथम भव में अधिगम विधि से धर्म घोष-सूरि आचार्य भगवान के दिए गए धर्मोपदेश श्रवण से सर्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करती है। सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण ही इसे प्रथम भव माना गया है। इसके बाद की संसार यात्रा में १३ भव करके वे ऋषभदेव प्रभु

बनकर मोक्ष में गए। इस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष गमन तक की उनकी भव संख्या १३ है।

मरुभूति के रूप में प्रथम जन्म में अधिगम भेद से गुरु-उपदेश द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करके, भव भ्रमण को सीमित करते हुए, १० वें भव में भगवान पार्श्वनाथ बनकर मोक्ष में गए।

इस तरह व इसी नियम के आधार पर सभी तीर्थंकरों की एवं मोक्ष में गई अन्य सिद्ध आत्माओं की भव संख्या की गणना की जाती है। सम्यक्त्व की अनुपस्थिति में अर्थात मिथ्यात्व के उदय में जितने भव बीतते हैं, उनकी गणना नहीं की जाती है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व कितना महत्वपूर्ण है, एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति कितनी उपयोगी एवं अनिवार्य है। यह समझकर जैसे भी हो सम्यक्त्व प्राप्त करना ही चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह सम्यक्त्व कैसा होता है? इसका स्वरूप कैसा होता है? सम्यक्त्व किसे कहते हैं? सम्यक्त्व की व्याख्या क्या है? सम्यक्त्व प्राप्ति की रीति एवं प्रक्रिया को हम पहले देख चुके हैं। अतः यहां पर सम्यक्त्व की व्याख्या एवं स्वरूप का विवेचन किया जाता है।

सम्यक्त्व की व्याख्या एवं स्वरूप—

तत्वार्थ सूत्र में उमास्वातिजी महाराज ने सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग् दर्शनम् ॥१-२॥

तत्व + अर्थ = श्रद्धानं = सम्यग्दर्शन तत्वरूप जो पदार्थ हैं, उनकी दृढ़ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्व जो जीवादि पदार्थ हैं उनके यथार्थ स्वरूप की जामकारी एवं मानने की वास्तविक श्रद्धा को सम्यग् दर्शन कहते हैं। अर्थात् तत्वभूत जीवादि पदार्थों की परिणाम जन्य तात्विक श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जीवादि तत्व कौन से हैं? यह बताने के लिए आगे के चौथे सूत्र में कहते हैं कि—

जीवाजीवाश्रव बंधसंवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्व ॥१-४॥

जीव, अजीव, आश्रव, बंध. संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि तत्व हैं। पूर्वधर महापुरुष उमास्वाती महाराज ने इस सूत्र की रचना में पुण्य और पाप को आश्रव तत्व के अन्तर्गत गिनकर तत्त्वों की संख्या सात रखी है, क्योंकि शुभाश्रव को ''पुण्य कहते हैं व अशुभ आश्रब को ही पाप कहते हैं।' इसलिए पुण्य और पाप को आश्रव के शुभाशुभ भेद गिनकर तत्वों की संख्या सात कही जा सकती है, और जब पुण्य-पाप की व्याख्या स्वतन्त्र तत्व के रूप में करते हैं तब तत्वों की संख्या नौ मानी जाती है, जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्र आगम में दर्शाया है—

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावाऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥
[उत्तरा. -१४]

—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष ये नौ तत्व हैं। इसी के जैसी, परन्तु क्रम भेद दर्शाती हुई, गाथा नवतत्व प्रकरण में इस प्रकार है—

जीवाजीवा पुण्णं, पावाऽऽसव संवरो य निज्जरणा।
बन्धो मुक्खो य तहा, नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥
[नवतत्त्व-१]

१. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आश्रव, ६. संवर, ७. बंध, ८. निर्जरा, ९. मोक्ष आदि नौ तत्व जानने जैसे हैं। समस्त जगत में ये ही मूलभूत नौ तत्व हैं। इनके अतिरिक्त संसार में किसी तत्व का अस्तित्व नहीं है। अतः तत्वों की संख्या न्यूनाधिक न रखते हुए निश्चित ही रखी गई है। इन्हीं तत्वों के साथ जुड़ने वाले भिन्न-भिन्न नामों से हम तत्वों का स्वरूप कुछ सदृश्य नामकरण से भी जान सकते हैं, जैसे— जीव (चेतन), अजीव (जड़), आत्मा-परमात्मा, कर्म, धर्म,पुण्य, पाप, स्वर्ग-नरक, लोक-अलोक, इहलोक-परलोक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, आश्रव, संवर बंध, क्षय, मोक्ष आदि मूलभूत मुख्य तत्व है। लोक व्यवहार के दृश्यमान पदार्थों को ही पदार्थ मात्र मानकर नहीं चलना है, परन्तु ऐसे तत्वभूत, तात्विक पदार्थो को मानकर चलने से एवं उनकी यथार्थ श्रद्धा रखने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसाकि नवतत्वकार कहते हैं कि

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्सहोइ सम्मत्तं ।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥

जीवादि नौ पदार्थों को जो सम्यग् रूप से जानता है, उसे सम्यक्त्वी कहते हैं। इन नौ तत्वों का ज्ञान तीर्थंकर प्ररूपित कथन (जिनवाणी) के अनुसार एवं अनुरूप यथार्थ ही होना चाहिए। उसी को श्रद्धारूप सम्यक्त्व कहते हैं। श्लोक की दूसरी पंक्ति में जो बात कही गई हैं, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म के कारण यदि तत्वभूत पदार्थों का ज्ञान कोई विशेष कक्षा का न भी हो पाया हो, परन्तु सगुरु योग से श्रवणादि द्वारा समझकर उन तत्वों पर दृढ़ श्रद्धा रखना भी सम्यक्त्व कहलाता है; *अर्थात् भाव से श्रद्धा रखता हुआ भी सम्यक्त्वी कहलाता* है। इस तरह यहां पर तत्वभूत नौ पदार्थों का यथार्थ सम्यग् ज्ञान एवं उनकी भावपूर्वक दृढ़ श्रद्धा इन दोनों को सम्यक्त्व के जनक बताए हैं। इसी बात को उत्तराध्ययन सूत्र आगम के प्रस्तुत श्लोक से आधार मिलता है --

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥

यथार्थ सत्य स्वरूप सम्यक्त्व—

सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सम्यग् अर्थात् सही, सत्य, यथार्थ एवं वास्तविक आदि। तत्वभूत पदार्थ के वास्तविक सत्य को स्वीकारना ही सम्यक्त्व कहलाता है। अर्थात् जगत् का कोई भी पदार्थ, अपने स्वरूप में जो जैसा है. उसे उसी स्वरूप में, ठीक वैसा ही मानना, इसे सम्यक्त्व कहते हैं।

यद् यथा तद्तथैव इति श्रद्धा एवं ज्ञानं सम्यक्त्वं उच्यते ।

अर्थात् जो तत्वभूत पदार्थ अपने स्वरूप में जैसा है उसे उसी स्वरूप में ठीक वैसा ही मानना एवं जानना सम्यक्त्व कहलाता है। इसी व्याख्या को चाहे सम्यक्त्व की व्याख्या कहो, चाहे सत्य की व्याख्या कहो–दोनों बात एक ही है। क्योंकि सत्य को ही सम्यक्त्व कहते हैं। ठीक इसके विपरीत मानना या जानना मिथ्यात्व कहा जावेगा। मिथ्यात्व असत्य एवं अज्ञान रूप होता है। जबकि सम्यक्त्व सत्य एवं सम्यग् ज्ञान रूप होता है। अतः सम्यक्त्व में सत्य का आग्रह होता है और यथार्थता एवं वास्तविकता की दृष्टि होती है जबकि मिथ्यात्व

में ठीक इससे विपरीत असत्य का आग्रह होता है। साथ ही अज्ञानतावश कदाग्रह, दुराग्रह की वृत्ति होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान का चरम सत्य स्वरूप कहां से प्राप्त किया जाय? प्रत्येक व्यक्ति अपनी बात को सच्ची ही कहता है, अतः किसकी बात सच्छी मानें?

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः" इस कथन के अनुसार—"जितने व्यक्ति उतनी मति" या "जितने मुंह उतनी बात" वाला ऐसा संसार का स्वरूप है। कोई भी व्यक्ति, मत, पंथ, गच्छ, समुदाय या धर्म अपनी बात को असत्य कहने को तैयार नहीं है। अतः किसे सत्य मानें? और किसका मत सत्य मानें? यह हमारे सामने एक विकट प्रश्न है।

एक ओर शास्त्र-सिद्धान्त यह कहता है कि चरम सत्य का स्वरूप एक ही होता है। सत्य कभी भी दो रूपों में नहीं होता है। सत्य कभी भी अस्थिर या विनाशी, नाशवंत एवं क्षणिक नहीं होता है। सत्य तो सदा ही स्थिर, नित्य, ध्रुव, अविनाशी व शाश्वत होता है। ऐसे सत्य को कहां से प्राप्त करें? हमें सत्य के सच्चे स्वरूप के दर्शन कहां से होंगे? किसकी बात पर हम आँख मूंदकर पूर्ण विश्वास रखें? किन की बात को पूर्ण सत्य मानें और यह समझें कि इसमें अंशभर भी असत्य की संभावना ही नहीं है। जिसमें रंचमात्र भी शंका न हो, ऐसी बात किसकी हो सकती है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि—**"सच्चं खु भयवं"** अर्थात् सत्य ही भगवान है। भगवान ही पूर्ण सत्य स्वरूप है और भगवान का कहा हुआ ही चरम सत्य है। इस सत्य और भगवान में अविनाभाव (एकात्म) सम्बन्ध है। तर्क बुद्धि से सोचने पर तर्क का आकार इस प्रकार का हो सकता है कि—जो-जो सत्य हैं वह भगवान ने कहा है? या जो-जो भगवान ने कहा वह सत्य है? या जितना सत्य है, उतना भगवान ने कहा है? सत्य बड़ा है या भगवान? भगवान से सत्य की उत्पत्ति हुई है या सत्य से भगवान की उत्पत्ति हुई है? ऐसे कई प्रश्नों का सारांश यह है कि सत्य सर्वज्ञ कथित एवं सर्वज्ञोपदिष्ट है।

सर्व प्रथम भगवान के विषय में ही सही (सत्य) निर्णय करलें ताकि सत्य का मूल आधार स्पष्ट हो जावे। इसे भी तर्क की कसौटी पर कस कर देखें—

जो-जो सर्वज्ञ हैं वे भगवान हैं या जो-जो भगवान हैं वे सर्वज्ञ हैं ? जो, जो वीतरागी अरिहंत हैं वे भगवान हैं या जो-जो भगवान हैं वे वीतरागी अरिहंत हैं ? सत्य की इस कसौटी पर बात स्पष्ट दिखाई दे रही है कि जो-जो सर्वज्ञ, पूर्ण ज्ञानी, सम्पूर्ण ज्ञानी, अनन्तज्ञानी या केवल ज्ञानी हैं, वे ही भगवान हैं। उन्हें ही भगवान के रूप में स्वीकारना चाहिये। यही सत्य है। लेकिन अपने मन से बन बैठे भगवान तो इस संसार में अनेक हैं। सभी सर्वज्ञ नहीं हैं। आज तो अल्पज्ञ, अज्ञानी, विपरीत-ज्ञानी भी भगवान बन बैठे हैं। अतः उन्हें भगवान कैसे मानें ? इसी तरह जो राग-द्वेष वाले हैं, काम-क्रोधादि आत्म शत्रु रूप कर्म अरियों से युक्त हैं, ग्रस्त हैं उन्हें भगवान कैसे मानें। अतः जो अरिहंत वीतरागी हैं वे अवश्य भगवान कहे जा सकते हैं परन्तु जो स्वयं अपने आप भगवान बने बैठे हों, जो रागद्वेष युक्त हों, जो काम-क्रोधादि दोषग्रस्त हों, जो भोग लीला प्रधान जीवन जीनें वाले हों, जो कंचन-कामिनी एवं वैभव-विलास वाले हों, उन्हें भगवान कैसे कहा जा सकता है ?

भगवान शब्द वाच्य १४ अर्थों में से किसी भिन्न अर्थ में या भिन्नार्थ में वे भले ही अपने आपको भगवान मानें या उन्हें कोई भगवान कहे, लेकिन वे सच्चे अर्थ में भगवान कहलाने योग्य नहीं हैं। अतः भगवान को पहचानने के लिए एवं उनकी परीक्षा के लिए सिर्फ दो ही शब्द पर्याप्त हैं—एक उनका वीतराग होना (२) सर्वज्ञ होना। जैसे सोने की परीक्षा कसौटी पर कस कर करते हैं ठीक इसी तरह "वीतराग' व "सर्वज्ञ" होने सम्बन्धी इन दो शब्दों की कसौटी पर कसके भगवान के सच्चे स्वरूप को जान सकते हैं। यही बात निम्न श्लोक में कही गई है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां ।
भेतारं कर्म भूभृतां, वन्देऽहं तद्गुणलब्धये ॥

जो मोक्ष मार्ग के उपदेशक हों, जो समस्त विश्व के तत्वों के ज्ञाता-सर्वज्ञ हों, तथा सर्वकर्मभूभृत अर्थात् कर्म के पहाड़ों को भेदने वाले विजेता अर्थात् वीतराग हो ऐसे भगवान के उन गुणों को प्राप्त करने के लिए, मैं उन्हें वन्दन करता हूं। सोचिये ! इस स्तुति में भगवान के गुण बताकर, उन्हें वन्दन किया गया है। अतः इन गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे गुण वाले ही भगवान होते हैं। भगवान और इन सर्वज्ञ वीतरागादि गुणों में परस्पर अविनाभाव एवं अन्योन्याभाव सम्बन्ध है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। राग-द्वेष सहित एवं सर्वज्ञता रहित स्वरूप को

भगवान कभी नहीं कह सकते हैं। भगवान वीतरागता एवं सर्वज्ञता रहित नहीं हो सकते हैं। भगवान बनने के लिये ये गुण आवश्यक होते हैं। परन्तु इन गुणों को प्राप्त किये बिना या इस अवस्था पर पहुँचे बिना ही यदि कोई रागी-द्वेषी, अल्पज्ञ, विपरीतज्ञ ही अपने आपको भगवान कहने लगे या राग-द्वेष, भोग-विलास करने वाले भी भगवान बन जावे अथवा उन्हें भगवान मानकर उनके अनुयायी बनकर यदि कोई उनके पीछे पागल होता है, तो समझिये कि—"स्वयं नष्टा परान्नाशयति" वे खुद भी नष्ट हो चुके हैं और अन्यों को भी नाश करेंगे। "विनाश काले विपरीत बुद्धि" की तरह नाश-विनाश काल में उनकी मति विपरीत हुई कि उन्होंने रागी-द्वेषी-भोग विलास वाले अल्पज्ञ को भगवान माना। वे स्वयं तो असत्य मिथ्यात्व एवं अज्ञान के खड्डे में गिरे ही लेकिन अपने कदाग्रह-दुराग्रह के खड्डे में दूसरों को भी गिराया, फंसाया। इस तरह "स्वयं नष्टा परान्नासयति" जैसी परिस्थिति निर्माण कर दी।

अत: सम्यक्त्व का मुख्य आधार जो भगवान पर है उन्हें सर्वप्रथम सर्वज्ञ, बीतरागी अवस्था वाले को ही भगवान मानना अनिवार्य है और ऐसे सर्वज्ञ वीतरागी को ही भगवान मानना ही शुद्ध सच्चा सम्यक्त्व कहलावेगा।

"आप्तस्तु यथार्थवक्ता" इस सूत्र से पूज्य तार्किक शिरोमणि वादिदेवसूरी महाराज ने "प्रमाणनय तत्वालोक" ग्रन्थ में यथार्थ वक्ता को ही आप्त महापुरुष कहा है। लौकिक आप्त पुरुष जो संसार के व्यवहार में जबकि इनसे श्रेष्ठ सर्वोच्च कक्षा के लोकोत्तर आप्त महापुरुष जो वीतरागी सर्वज्ञ हैं, उनके वचन में सर्वोच्च रखना ही सम्यक् श्रद्धा है।

इस तरह स्पष्ट सत्य स्वरूप ऐसा है कि जो जो वीतरागी होते हैं वे ही भगवान होते हैं, परन्तु अल्पज्ञ रागी-द्वेषी, भोग-लीला वाले भगवान नहीं कहलाते हैं। इसलिये वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा (भगवान) ने जो-जो कहा है वही सत्य है और वास्तव में जो सत्य है उसे परमात्मा ने ही कहा है, क्योंकि वीतरागता के गुण के कारण, राग-द्वेष, काम क्रोधादि कारणों का परिहार हो जाने के कारण अब असत्य बोलने या कहने का उनके पास कोई कारण ही शेष नहीं बचा है। क्रोध-लोभ-भय, हास्यादि ये ही असत्य बोलने के प्रमुख कारण हैं जबकि सर्वज्ञ वीतरागी भगवान जो—"**अष्टादश दोष वर्जितो जिन:**" अठारह दोष या सर्व दोष रहित जिन भगवान

कहलाते हैं उनमें काम, क्रोध, लोभ, भय, हास्यादि किसी भी दोष की जब संभावना ही नहीं है तो फिर वे असत्य क्यों व किस कारण बोलेंगे ? हमारे सामने तो काम, क्रोध, लाभ, भय, हास्यादि अनेक कारण उपस्थित रहते हैं, इसलिये हम असत्य बोलते रहते हैं । परन्तु वीतराग परमात्मा जो सर्व दोष रहित है, जिनमें उपरोक्त दोषभूत क्रोध, लोभ, भय व हास्यादि कारण ही नहीं है तो वे असत्य बोल ही कैसे सकते हैं । कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ऐसा सर्वथा असंभव ही है । अतः यह स्वीकारना निर्विवाद है कि जो-जो भगवान ने कहा है वह पूर्ण सत्य है । साथ ही जो-जो सत्य है वह भगवान ने ही कहा है ।

सर्वज्ञ वीतरागी भगवान के सिवाय सत्य का चरमस्वरूप बताने वाला जगत में और कोई है ही नहीं । जैसे सूर्य के कारण दिन और दिन के कारण सूर्य, अन्योन्याश्रित कारण रूप हैं, ठीक वैसे ही भगवान के कारण सत्य और सत्य के कारण भगवान ये भी अन्योन्याश्रित कारण रूप होने से दोनों ही जन्य-जनक कारण रूप हैं । सत्य का कारण भगवान और भगवान का कारण सत्य । इसलिये जो सर्वज्ञ वीतरागी भगवान हैं, वे ही चरम सत्य का स्वरूप बता सकते हैं । इसलिये आगम शास्त्र में सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि—**"जं, जं जिणेहिं भासियाइं तमेव निःसंकं सच्चं ।"— "तमेव सच्चं निः संकं जं जिणेहिं पवेइयं ।"**

जो-जो सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान ने कहा है वही शंका रहित सत्य है, ऐसा मानना स्वीकारना ही सम्यक्त्व है । सर्वज्ञ जो अनन्तज्ञानी, केवलज्ञानी हैं, जिन्होंने समस्त लोक-अलोक रूप सारा संसार जाना है, देखा है । अनन्त पदार्थों के अनन्त गुण-पर्यायों का सम्पूर्ण ज्ञान जिन्हें है, वे जो तत्व का स्वरूप प्रतिपादित कर गये हैं, वही चरम सत्य है व भविष्य में भी होगा । अतः ऐसे चरम सत्य रूप तत्त्वार्थ तत्वभूत पदार्थ में जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में, वैसा ही देखना, जानना एवं मानना, उसमें अंश मात्र भी शंका न रखना, यही सम्यक्त्व की उत्तम व्याख्या है । जिनेश्वर प्रतिपादित तत्त्व में यथार्थ बुद्धि रखनी, वास्तविक सच्चे ज्ञान के प्रति श्रद्धा रखनी, यही सम्यक्त्व है । इससे बढ़कर श्रेष्ठतम व्याख्या क्या हो सकती है ? इस प्रकार सम्यक्त्वी सत्य का पक्षपाती, सत्य का आग्रही एवं सत्यान्वेषी होता है । वह प्रत्येक वस्तु एवं तत्त्वभूत पदार्थ को यथार्थ, वास्तविक स्वरूप में देखता, जानता व मानता है । ऐसे सम्यक्त्वी की दृष्टि भी सम्यक् (सच्ची), ज्ञान जानकारी सम्यक्

(सच्चा), और उभय रूप से मानना श्रद्धा भी सम्यग् (सच्ची) होती है। अतः वह सच्चा सम्यक्त्वी होता है।

अतः देखने, जानने और मानने की तीन रीतियों से जिसने अपनी वृत्ति सम्यक् बनाई है वह सच्चा सम्यक्त्वी है। ऐसा सम्यक्त्वी जो सम्यग् ज्ञानी है, जो प्ररूपणा प्रतिपादन करेगा, उसमें भी सत्य, पानी पर तैल की तरह तैरता हुआ, स्पष्ट दिखाई देता है, सम्यक्त्वी का सम्यग्ज्ञान और सम्यक श्रद्धा किसी से छिपी नहीं रह सकती है। वह जीवादि सभी तत्वों को तथा देव-गुरु-धर्मादि के स्वरूप को उसी अर्थ एवं स्वरूप में देखेगा, जानेगा व मानेगा, जिस स्वरूप में जीवादि तत्व या देव-गुरु-धर्मादि हैं। तत्व पदार्थ के यथार्थ वास्तविक स्वरूप से सम्यक्त्वी के देखने, जानने, मानने एवं कहने में विसंगतता एवं विषमता कभी भी नहीं आवेगी। हमेशा सुसंगतता एवं सुसंवादिता ही रहेगी, क्योंकि तत्व पदार्थ का जैसा वास्तव में स्वरूप है, उसे सम्यक्त्वी तनिक भी परिवर्तन किए बिना वैसा यथार्थ ही मानता है, जानता है और देखता है। अतः कथन भी वैसा यथार्थ वास्तविक ही करेगा। विपरीत प्ररूपणा मिथ्यात्वी कर सकता है, सम्यक्त्वी कदापि नहीं कर सकता है।

देव-गुरु-धर्म का सही स्वरूप—

या देवे देवता बुद्धिः गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे धर्म धीर्यस्य सम्यक्त्वं तदुदीरितम्॥

वास्तव में जो देव-देवाधिदेव भगवान है, उनमें ही भगवानपने की, देवपने की बुद्धि रखे तथा वास्तव में सही अर्थ में जो कंचन-कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रत धारी, संसार के त्यागी साधु-मुनि महात्मा है, उनमें ही गुरुपने की बुद्धि रखें तथा जो सर्वज्ञ कथित (सर्वज्ञोपदिष्ट) धर्म है, उसमें ही धर्म बुद्धि रखें उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

भगवान का जो सर्वज्ञ-वीतरागी स्वरूप जो पहले कहा जा चुका है, उसी में भगवानपने की सम्यग् बुद्धि रखनी, उसी तरह गुरु से भी जो सच्चे गुरु हैं उनमें ही गुरुपने की यथार्थ सम्यग् बुद्धि रखनी, अर्थात् जो सर्वज्ञ, वीतरागी भगवान के बताये हुए मार्ग पर चलते हैं, उन्हें ही गुरुबुद्धि से गुरुपने के रूप में मानना यही सच्ची सम्यक्त्वी मान्यता है। ठीक इसी तरह धर्म भी कौनसा? और कैसा मानें? इस

विषय में भी मात्र ऐसे लोकोत्तर आप्त महापुरुष जो सर्वज्ञ वीतरागी भगवान हैं, उन्हीं के द्वारा कहे गये सर्वज्ञोपदिष्ट मार्ग को धर्म मानना। इसी में सम्यक्त्व है।

इस तरह सम्यक्त्व की समग्र-सम्पूर्ण दृष्टि, वृत्ति आदि सत्य की तरफ होती है। वह प्रत्येक बात में सत्य स्वरूप को ही जानने, देखने, मानने का आग्रह रखता है। अत: सम्यक्त्वी, सत्यान्वेषी, सत्य का आग्रही होता है। ऐसे सम्यक्त्व में जीवादि जो तत्व हैं, उन्हें भी उसी रूप-स्वरूप में मानना-स्वीकारना होता है।

ऐसा नहीं होता कि पदार्थ का स्वरूप कुछ और ही है और उसे जानने में हम कुछ और ही जान रहे हैं या विपरीत जान रहे हैं। तो वह सम्यक्त्व न होकर मिथ्यास्वरूप होगा।

भ्रम मूलक व्याख्या और अर्थ—

संसार में ऐसे कई मिथ्यामति जीव हैं जो अपने बुद्धिबल एवं कुतर्क तथा कुयुक्तियों के आधार पर संसार के मूलभूत जो सही तत्वादि पदार्थ हैं उनको अपने ढंग से, अपनी पद्धति की व्याख्या से समझाते हैं। तत्वों के नाम तो वे ही रखेंगे। जीव, अजीव, पुण्य-पाप-मोक्ष आदि नाम तो वही होंगे परन्तु अर्थ एवं व्याख्या अपने ढंग की मनमानी तरीके से करेंगे। जैसे आत्मा के बारे में कई कहते हैं—'देहात्मा" अर्थात वे देह और आत्मा को एक ही मानते हैं। उनके अनुसार देह ही आत्मा है। वे यह मानने को कदापि तैयार नहीं होते है कि आत्मा शरीर से अलग है। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसी प्रकार संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी है, जो इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। कोई-कोई ऐसे भी हैं जो मन को ही आत्मा मानते हैं! कोई प्राण को आत्मा मानते हैं। कोई ब्रह्म को आत्मा मानते हैं। वे अन्य जीव में आत्मा नहीं मानते।

संसार में कोई कहते हैं कि एक ही आत्मा है। दूसरे कहते हैं कि आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। कुछ आत्मा मानकर, उसे क्षणिक विनाशी मानते हैं। तो कोई उसे कूटस्थ, नित्य, एकान्त, नित्य या एकान्त-अनित्य ही मानते हैं। लेकिन "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त" यथार्थ स्वरूप में नहीं मानते हैं। कोई आत्मा को भी जड़ रूप में मानते हैं। तो कोई आत्मा को भी पंच महाभूत जन्य मानते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश आदि पांच महाभूतों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई,

आत्मा को मानते हैं । तो कोई Chemical Compound याने रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न हुई आत्मा मानते हैं । तो कोई आत्मा को अनादि, अनन्त, असंख्य प्रदेशी नहीं मानते हैं । तो कोई आत्मा को ज्ञान-दर्शनादि गुणवान नहीं मानते हैं । तो कोई ऐसे भी हैं जो आत्मा को शून्य रूप मानते हैं । कुछ कहते हैं, आत्मा है ही नहीं। तो कोई आत्मा शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं । इस तरह यह तो केवल आत्मा के बारे में विवाद या मतमतान्तर की बात हुई । एक आत्मा तत्व के बारे में लोगों की सैंकड़ों तरह की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं । ठीक इसी तरह आत्मा, परमात्मा, जीव, अजीव, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, धर्म-कर्म, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, इहलोक-अलोक, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, आश्रव-संवर, वंध-मोक्षादि अनेक तत्वों के विषय में जो यथार्थ वास्तविक स्वरूप एवं अर्थ है, वैसा न मानते हुए, न कहते हुए, वे अपनी मन घडन्त व्याख्या एवं अर्थ करके जगत के भोले-भाले जीवों को माछीमार की तरह अपने जाल में फंसाते हैं । अपने पक्ष में या मत में खींचते हैं । यह सारी स्थिति मिथ्यादशारूपी-मिथ्यात्व की प्रवृत्ति है । इससे कई कोरी-स्लेट या कोरे कागज जैसे जीव भ्रमवश मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं । वे अज्ञान मूलक मिथ्यात्व की दिशा में चले जाते हैं । परिणामस्वरूप सच्चे सम्यग् ज्ञान से वंचित रह जाते हैं । इसलिये—

'तमेव सच्चं निः संकं जं जिणेहिं पवेइयं ।''

की व्याख्या अवश्य स्वीकारनी चाहिये । ''वही सत्य, निःसंक (शंका रहित) है जो सर्वज्ञ वीतरागी जिनेश्वर भगवान ने प्रतिपादित किया है ।'' जो सर्वथा सत्य है उसी पर श्रद्धा रखनी चाहिए । इसी को सच्ची सम्यग् श्रद्धा मानेंगे । इसी आधार पर आत्मा से मोक्ष तक के सभी तत्वों का ज्ञान भी सम्यग् ही करना चाहिये । सोने में सुगन्ध की तरह ज्ञान और श्रद्धा (दर्शन व ज्ञान) सम्यग् होने पर यदि आचरण याने चारित्र भी सम्यग् बन जाय, चारित्र इनके साथ मिल जावे तो, इस तरह दर्शन-ज्ञान व चारित्र तीनों सम्यग्रूप से इकट्ठे हो जाएँ तो वह मोक्ष मार्ग बन जाता है । इसीलिए कहा है—

''सम्यग् दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्गः ।'' ऐसे मोक्ष मार्ग को प्राप्त करके जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति में सम्यक्त्व की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है । इस प्रकार के सम्यक्त्व को समझने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने सम्यक्त्व को अनेक प्रकार से दर्शाया है ।

एगविह दुविह तिविहं. चउहा पंचविह दसविहं सम्मं ।
दव्वाइ कारयाई, उवसमभेएहिं वा सम्मं ॥
एगविह सम्मरूई, निसग्गहिगमेहि भवे तयं दुविहं ।
तिविहं तं खइआई, अहवावि हु कारगाईअं ॥
खइगाई सासणजुअं, चउहा वेअग जुअं तु पंचविहं ।
तं मिच्छचरमपुग्गल-वेअणओ दसविहं एअं ॥

प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में सम्यक्त्व को विविध प्रकारों से समझाने के लिए संख्या के आधार पर कई प्रकार बनाकर बताए हैं, जिसमें एक प्रकार से, दो प्रकार से, तीन भेद से, चार भेद से, पांच भेद से और दस भेद से, इस तरह विविध प्रकारों से सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है । अतः इनका क्रमशः विचार करना लाभदायक होगा ।

(१) एक प्रकार से सम्यक्त्व—"**एगविह सम्मरुई**" सम्यक्त्व रूचि को एक प्रकार का सम्यक्त्व कहते हैं या "**तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं**" तत्वार्थ में श्रद्धा रखना ।

(२) दो प्रकार से सम्यक्त्व भिन्न-भिन्न तरीकों से अलग-अलग रूप से होता है ।

(अ) दो प्रकार के सम्यक्त्व

निसर्ग सम्यक्त्व — अधिगम सम्यक्त्व

(ब) दो प्रकार के सम्यक्त्व

निश्चय सम्यक्त्व — व्यवहार सम्यक्त्व

(स) दो प्रकार से सम्यक्त्व

द्रव्य सम्यक्त्व — भाव सम्यक्त्व

(द) दो प्रकार से सम्यक्त्व

- पौद्गलिक सम्यक्त्व
- अपौद्गलिक सम्यक्त्व

इस तरह चार प्रकार (अ, ब, स, द) से दो प्रकार के भेद किये गये हैं।

(३) अ तीन प्रकार से सम्यक्त्व

- कारक सम्यक्त्व
- रोचक सम्यक्त्व
- दीपक सम्यक्त्व

(ब) तीन प्रकार से सम्यक्त्व

- औपशमिक सम्यक्त्व
- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व
- क्षायिक सम्यक्त्व

चार प्रकार से सम्यक्त्व

- औपशमिक सम्यक्त्व
- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व
- क्षायिक सम्यक्त्व
- सास्वादन सम्यक्त्व

पांच प्रकार से सम्यक्त्व

- औपशमिक सम्यक्त्व
- क्षायोपशमिक सम्यक्त्व
- क्षायिक सम्यक्त्व
- सास्वादन सम्यक्त्व
- वेदक सम्यक्त्व

दश प्रकार से सम्यक्त्व

- १ निसर्गरुचि
- २ उपदेशरुचि
- ३ आज्ञारुचि
- ४ सूत्ररुचि
- ५ बीजरुचि
- ६ अधिगमरुचि
- ७ विस्ताररुचि
- ८ क्रियारुचि
- ९ संक्षेपरुचि
- १० धर्मरुचि

इस तरह भिन्न-भिन्न तरीकों से सम्यक्त्व का स्वरूप समझने के लिए संख्या निमित्तक भेद बताये हैं इनका स्वरूप संक्षिप्त रूप से समझने के लिए कुछ विचार करना यहां आवश्यक है।

(१) एक प्रकार से—**जिनोक्त तत्वेषु रूचिः शुद्ध सम्यक्त्वमुच्यते ।**

सर्वज्ञ वीतरागी जिनेश्वर भगवंतों ने बताए हुए, जीव-अजीवादि तत्वों में अज्ञान, शंका, भ्रम, शंका एवं मिथ्याज्ञानादि रहित निर्मल रुचि अर्थात् श्रद्धा रूप आत्म परिणाम विशेष को सम्यक्त्व कहते हैं। जिन कथित तत्वों में यथार्थपने की बुद्धि या वास्तविक श्रद्धारूप भाव या तथापि शुद्ध तत्वों की श्रद्धा (तत्वार्थ श्रृद्धानं) को बिना किसी भेद के एक प्रकार का शुद्ध सम्यक्त्व कहते हैं।

२. (अ) निसर्ग और अधिगम इन दो तरीकों से जो सम्यक्त्व उपार्जन किया जाता है, उसे इन दो प्रकार में गिना गया है।

२. (ब) निश्चय सम्यक्त्व—

निच्छयओ सम्मत्तं, नाणाइमयप्प शुद्ध परिणामो ।
इयरं पुणं तुह समये, भणियं सम्मत हेउहिं ।।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र मय आत्मा का जो शुद्ध परिणाम अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की एकता रूप जो आत्म परिणाम विशेष होता है उसे ही निश्चय नय की दृष्टि से सम्यक्त्व कहते हैं। आत्मा और आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण भिन्न-भिन्न नहीं हैं परन्तु अभेद भाव से एक ही है। अभेद परिणाम से परिणत आत्मा तद्गुण रूप कहलाती है। जैसा जाना वैसा ही त्याग भाव हो,और श्रद्धा भी तद्नुरूप हो ऐसे उपयोगी की आत्मा वही ज्ञान, वही दर्शन, वही चारित्र रूप है। ऐसी रत्नत्रयात्मक आत्मा, अभेद भाव से देह में रही हुई है। रत्नत्रयी के शुद्ध उपयोग में वर्तती हुई आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। ऐसा निश्चय सम्यक्त्व सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक के पूर्व कहीं नहीं होता है।

व्यवहार सम्यक्त्व—

उपरोक्त निश्चय सम्यक्त्व में हेतुभूत सम्यक्त्व के ६७ भेदों का ज्ञान, श्रद्धा व क्रिया रूप से यथाशक्ति पालन करने को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। मुनिदर्शन, जिनभक्ति महोत्सव, जिन दर्शन पूजन, तीर्थयात्रा, रथयात्रा आदि शुद्ध हेतुओं से उत्पन्न होते श्रद्धारूप सम्यक्त्व को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। ये हेतु सहायक निमित्त हैं।

२. (क) **द्रव्य सम्यक्त्व**—जिनेश्वर कथित तत्वों में जीव की सामान्य रुचि को द्रव्य सम्यक्त्व कहते है, अर्थात् सर्वतोपदिष्ट जीवादि तत्वों में परमार्थ जाने बिना ही वे हो सत्य है "ऐसी श्रद्धा" रखने वाले जीवों के सम्यक्त्व को द्रव्य सम्यक्त्व कहते हैं।

भाव सम्यक्त्व—

उपरोक्त सामान्य श्रद्धा रूप जो द्रव्य सम्यक्त्व है उसी में विशेष बुद्धि से जानना अर्थात् सर्वज्ञोपदिष्ट जीव-अजीव, मोक्षादि तत्वों को जानने के उपाय रूप, नय, निक्षेप, स्याद्वाद, प्रमाण आदि शैली पूर्वक सभी तत्वभूत पदार्थों को विशेष ज्ञान से परमार्थ जानने वाले की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व कहते हैं। संक्षेप में सामान्य रुचि यह द्रव्य सम्यक्त्व है। यहां पर द्रव्य कारण है और भाव कार्य है। इसलिये भाव सम्यक्त्व के कारण रूप द्रव्य सम्यक्त्व कहा गया है और इसका विशेष रूप से विस्तार रुचि भाव सम्यक्त्व है।

२. (उ) पौद्गलिक-सम्यक्त्व—

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्गल परमाणु के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को पौद्गलिक सम्यक्त्व कहा गया है। इसमें इन पुद्गलों का उपशम क्षयोपशम प्रधान रूप से होता है। ऐसे क्षायोपशमिक, वेदक, सास्वादन, मिश्र प्रकार के सम्यक्त्व पौद्गलिक सम्यक्त्व में गिने जाते हैं, जबकि क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व ये दोनों आत्मा के घर के होने से अपौद्गलिक विभाग में गिने जाते हैं। अतः इन्हें "**अपौद्गलिक सम्यक्त्व**" कहते हैं।

त्रिधा सम्यक्त्व—

१. **कारक सम्यक्त्व**—सर्वज्ञ भगवान ने जैसा "अनुष्ठान-मार्ग" या चारित्र क्रिया रूप जो मार्ग प्रतिपादित किया है उस मार्ग पर चलने वाले शुद्ध क्रियाशील जीव के श्रद्धाभाव की कारक सम्यक्त्व करते हैं, अर्थात् सूत्रानुसारिणी शुद्ध क्रिया कारक सम्यक्त्व के रूप में है। ऐसी क्रिया से स्व आत्मा को और देखने वाली पर आत्मा को भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अतः यथार्थ तत्व श्रद्धान् पूर्वक आगमोक्त शैली अनुसार तप-जप-व्रतादि क्रिया करने वाले विशुद्ध चारित्रवान् इस कारक सम्यक्त्व का अधिकारी है।

(२) **रोचक सम्यक्त्व**—सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के वचन में पूर्ण श्रद्धा रखे, उसमें पूर्ण रुचि भी हो एवं जिनोक्त धर्म की तप-जप-विधि-क्रिया आदि करने की तीव्र रुचि हो, परन्तु बहुत कर्मी जीव होने के कारण वैसी क्रियाएँ कर न सके, परन्तु रुचि रूप जो श्रद्धा रहती है, उस सम्यग् क्रिया के रुचि रूप भाव को रोचक सम्यक्त्व कहते है। लेकिन इसमें प्रवृत्ति वैसी नहीं कर पाता है। ऐसा रोचक सम्यक्त्व अविरत सम्यग् दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानक वाले को होता है। जैसे—श्रेणिक महाराजा आदि को था।

(३) **दीपक सम्यक्त्व**—स्वयं मिथ्यादृष्टि या अभवी जीव हो, फिर भी अपनी उपदेश शक्ति द्वारा अन्य जीवों को सम्यक्त्व भाव उत्पन्न कराने में निमित्त बनता है, दूसरों की यथार्थ श्रद्धा की रुचि जगाने में सहायक बनता है, तथा अन्य जीवों पर जीवाजीवादि तत्वों को समझाते हूए, यथार्थ प्रकाश डाल सके, ऐसे मिथ्यात्वी या अभवी जीवों का सम्यक्त्व दीपक सम्यक्त्व कहलाता है। जिस तरह स्वयं दीपक के तले अन्धेरा होता है और वह दूर तक प्रकाश पहुँचा कर वस्तुओं को प्रदर्शित करता है, ठीक उसी तरह का कार्य मिथ्यात्वी अभवी जीव करते हैं। अर्थात् वे खुद सम्यक्त्वी न होते हुए भी, स्वयं मिथ्यात्वी होते हुए भी अपनी बुद्धि शक्ति एवं उपदेश से अन्य भव्य जीवों में सम्यक्त्व जगा सकते हैं। यहां पर व्यवहार नय के कार्य कारण भाव का अभेद मानकर मिथ्यात्वी अभव्य जीवों में उपदेश प्रधान होने से दीपक रूप सम्यक्त्वी कहलाते हैं। वस्तुतः वे मिथ्यात्वी हैं या अभवी भी हैं जैसे अंगारमर्दकाचार्य स्वयं अभव्य जीव होते हुए भी उपदेशक रूप से ऐसे दीपक सम्यक्त्वी कहे जाते थे।

३–४–५ प्रकार के सम्यक्त्व में मात्र थोड़ा सा ही अन्तर है। तीसरे प्रकार के सम्यक्त्व में मात्र चौथा सास्वादन मिलाने से चौथा प्रकार होता हैं, और चौथे प्रकार के सम्यक्त्व में पांचवा वेदक सम्यक्त्व मिलाने से पांचवा प्रकार बनता है। इस प्रकार १. क्षायिक, २. क्षायोपशमिक, ३. औपशमिक ४. सास्वादन ५. वेदक। इस तरह पांच प्रकार के सम्यक्त्व बताए गए हैं।

६. क्षायिक सम्यक्त्व—

खीणे दंसणमोहे, तिविहंमि वि भवनिआण भूअंमि।
निपच्चवायमउलं सम्मत्तं खाइयं होइ ॥

मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय तीनों प्रकार के दर्शन मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण रूप से क्षय और साथ ही अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषाय। इस तरह कुल सातों कर्म प्रकृतियों के दर्शन सप्तक का सम्पूर्ण रूप से सर्वथा क्षय हो जाने पर प्राप्त होता हुआ, स्वाभाविक तत्वरुचि रूप सम्यक्त्व आत्म परिणाम विशेष को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। चूंकि यह सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह क्षायिक सम्यक्त्व अप्रतिपाती हैं। अर्थात् उत्पन्न होने के बाद कभी भी नष्ट न होता हुआ अनन्तकाल तक रहता है। अतः इसे आदि अनन्त भी कहते हैं। क्षायिक भाव से उत्पन्न होने वाला यह सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।

२. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व--

मिच्छत्तं जमुइन्नं, तं खीणं अणुइययं च उवसंतं।
मीसीभाव परिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ॥

क्षय + उपशम = क्षयोपशम। क्षयोपशमत्व भाव क्षायोपशमिक अर्थात् उदय में आये हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिकों का सर्वथा मूल सत्ता में से क्षय करना और उदय में नहीं आये हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म दलिकों का दबा देने रूप अपशमन कर रखना। ऐसे क्षय और उपशम भाव से, क्षय के साथ उपशम रूप क्षयोपशम भाव से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे क्षयोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

३. औपशमिक सम्यक्त्व --

मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कर्म प्रकृति की अनुदय अवस्था अर्थात् उपशम होने से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। पूर्व में जिनका काफी विवेचन किया गया है ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण तथा अन्तःकरण आदि करणों के द्वारा अनादि मिथ्या दृष्टि जीव को अपूर्वकरण से निबिड़ राग-द्वेष की ग्रन्थि का भेदन करने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त में जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका काल अन्तर्मुहूर्त परिमाण होता है। चारों ही गति में

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को तीनों करण एवं ग्रन्थि भेद आदि से यह सम्यक्त्व प्रकट होता है तथा उपशम श्रेणि में चढ़ते हुए जीवों को होता है।

४. सास्वादन सम्यक्त्व = स + आस्वादन = सास्वादन—

"आस्वादनेन सह वर्तते इति सास्वादनं"

अर्थात् कुछ स्वाद–आस्वादन के साथ रहे उसे सास्वादन कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के चौथे गुण स्थानक से पतित होते हुए, सास्वादन नामक दूसरे गुण स्थानक पर जो सम्यक्त्व का आस्वादन मात्र रहता है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व वंत कोई सम्यक्त्वी जीव अन्तःकरण के अन्त में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः आवलिका का समय शेष रहने पर, अनन्तानुबंधी कषाय का उदय होने पर, सम्यक्त्व से पतित होता हुआ अर्थात् सम्यक्त्व का वमन करने से जब गिरता है, तब कुछ सम्यक्त्व का स्वाद मात्र अंश शेष रहता है। उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

जैसे कोई पाक-दूध, रबड़ी का भोजन करता है और तुरन्त भोजन का वमन होने पर जो आंशिक स्वाद रहता है, ठीक वैसे ही उपशम सम्यक्त्व के वमन होने पर, जो कुछ स्वाद रूप अंश रहता है—उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच का काल ६ आवलिक प्रमाण सास्वादन सम्यक्त्व होता है।

५. वेदक सम्यक्त्व—

क्षपक श्रेणि को प्राप्त करने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी जीव को अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारों कषाय एवं मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के पुंज इन ६ के सम्पूर्ण क्षय होने के बाद सम्यक्त्व मोहनीय के शुद्ध पुंज का क्षय करते समय जब सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गल का क्षय करने का अवसर आता है, तब अन्तिम ग्रास का जो वेदन हो रहा हो, उस समय के सम्यक्त्व को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके बाद अर्थात् अन्तिम ग्रास के क्षय होने पर दर्शन सप्तक का सम्पूर्ण अन्त या क्षय होने से अन्तर समय में जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

जीवसमासवृत्ति में मलधारी हेमचन्द्रसूरि म. ने लिखा हैं कि—

"वेद्यते – अनुभूयते शुद्ध सम्यक्त्व पुंज पुद्गल अस्मिन्नीति, वेदकं ।"

अर्थात् शुद्ध सम्यक्त्व के पुद्गल पुंज जिसमें वेदन अनुभव होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं ।

उपरोक्त पाँच प्रकार के सम्यक्त्वों का संक्षेप में विवेचन किया गया है । विशेष रुचि वाले महानुभावों को अन्य शास्त्र आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिये ।

दशविधि सम्यक्त्व—

"रुचिः जिनोक्ततत्वेषु, सम्यग् श्रद्धानमुच्यते ।"

योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य म. कहते हैं कि, जिनेश्वर भगवान द्वारा कहे हुए तत्वों में रुचि निर्माण होना, इसे सम्यक्त्व या सम्यग् (सच्ची) श्रद्धा कहते हैं । "तत्व रुचि" को सम्यग्दर्शन का कारणभूत प्रबल निमित्त बताया गया है । सिद्ध चक्र महापूजन के अनुष्ठान में—

"तत्व रुचि रूपाय श्री सम्यग् दर्शनाय स्वाहा ।"

"तत्वरुचि" रूप सम्यग्दर्शन को मंगल रूप मानकर पूजन करते हुए नमस्कार किया गया है । अतः सारांश यह है कि सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए "तत्व रुचि" जागृत करना परम आवश्यक है । शास्त्रकार महापुरुषों ने सम्यक्त्व कारक ऐसी १० प्रकार की भिन्न-भिन्न रुचियां दशविध सम्यक्त्व के अन्तर्गत बताई हैं । वे इस प्रकार हैं—

निसग्गुवए स रूई, आणरूइ सुत्त-बीअ रूइमेव ।
अभिगम-वित्थाररूई, किरिआ संखेवधम्मरूई ॥

(१) निसर्ग रुचि—

निसर्ग अर्थात नैसर्गिक, याने स्वाभाविक भाव से जिनेश्वर-सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररूपित जीवादि तत्वों के प्रति स्वाभाविक अभिलाषा या रुचि होना । बिना किसी के उपदेश से जाति-स्मरणज्ञान से या अपनी प्रतिभाशाली मति से जीवादि तत्वों के प्रति रुचि जागृत होना, या दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से मात्र

व्यवहार रूप से नहीं परतु यथार्थ रूप से सत्वस्तु को ही वस्तु रूप मानने का जो शुभ भाव व इससे जीवादि तत्व के प्रति आत्मा का यथार्थ तत्व श्रद्धा रूप रुचि को निसर्ग रुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(२) उपदेश रुचि—

गुरु, सर्वज्ञ केवली के उपदेश द्वारा जीवादि तत्वों में सत् भूतार्थ रूप, यथार्थपने की रुचि (बुद्धि) को उपदेश रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। अर्थात् उपदेश श्रवण से होने वाले बोध की रुचि को उपदेश रुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(३) आज्ञा रुचि—

विवक्षित अर्थ बोध के बिना भी जिनेश्वर भगवान की आज्ञा को ही सत्य मानकर कदाग्रह के बिना तत्वों में अभिरुचि रखना, आज्ञारुचि कहलाती है। वीतरागी आप्त पुरुष की आज्ञा मात्र से अनुष्ठान करने की रुचि या आचार्य, उपाध्याय, साधु भगवंत, गुरु की आज्ञा से अनुष्ठान आचरने में जो रुचि उत्पन्न होती है उसे आज्ञा रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसी माषतुष मुनि में थी।

(४) सूत्र रुचि—

आचारांग सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि अंग-उपांग-सूत्र, आदि आगम ग्रन्थों का पुनः पुनः अध्ययन, अध्यापन, पुनरावर्तन करने से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा जीवादि तत्वों में यथार्थपने की विशेष श्रद्धा जो उत्पन्न हो, उसे सूत्र रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसी कि गोविन्दाचार्य को थी।

(५) बीज रुचि—

जीवादि किसी एक पदार्थ की श्रद्धा से उसके अनुसंधान रूप अनेक पदों में तथा उसके अर्थ में उत्तरोत्तर विस्तार होता जाय, उसे बीज रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसे पानी में गिरा हुआ तेल बिन्दु विस्तरता हुआ, चारों तरफ फैल जाता है या एक बीज बोने से जैसे अनेक बीजों का निर्माण होता है वैसे ही अनेक तत्वों के बीज रूप या कारण भूत किसी एक तत्व की श्रद्धा होने पर वह विस्तरित होती हुई अनेक तत्वों की श्रद्धा निर्माण कर, वे उसे बीज रुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(६) अधिगम रुचि—

अधिगम अर्थात् ज्ञान । सर्व आगमों के आभास से अर्थ ज्ञान जो प्राप्त किया हो और उस ज्ञान से सर्व आगम शास्त्रों के अर्थ पर सर्वथा सही है ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं ।

(७) विस्तार रुचि—

प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द प्रत्याभिज्ञान एवं आगम आदि सर्व प्रमाण, नय और निक्षेप आदि पूर्वक जो सर्व द्रव्यों का और सर्व गुण पदार्थों का ज्ञान होता है और उससे उत्पन्न हुई अत्यन्त विशुद्ध श्रद्धा को विस्तार रुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

(८) क्रिया रुचि—

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार आदि पंच आचार का पालन करने की रुचि एवं विनय, वैयावच्च आदि अनुष्ठान रूप क्रिया करने की रुचि को क्रिया रूप सम्यक्त्व कहते हैं ।

(९) संक्षप रुचि—

जिसे पर दर्शन का ज्ञान नहीं है और जिन वचन रूप स्वदर्शन से भी अच्छी तरह परिचय नहीं है, अर्थात् जिसने किसी तत्व का सही ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, ऐसे जीव को मात्र मोक्ष प्राप्ति की रुचि हो उसे संक्षेप रुचि सम्यक्त्व कहते हैं । जैसाकि "चिलाती पुत्र" के जीवन में हुआ । जिसे सम्यग् धर्म का एवं तत्वादि का कुछ भी ज्ञान नहीं था, फिर भी उपशम-संवर विवेक रूप पदत्रय के श्रवण मात्र से ही जो मोक्ष रुचि जागृत हुई उसे संक्षेप रुचि कहते हैं ।

(१०) धर्म रुचि—

मात्र "धर्म" शब्द सुनने से ही जिसे धर्म के प्रति आदर, सन्मान, प्रेम या प्रीति उत्पन्न हो और धर्म पर से वाच्य ऐसे यथार्थ धर्म तत्व के प्रति जो सही कक्षा या रुचि उत्पन्न हो, उसे धर्म रुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

इस प्रकार सम्यक्त्व द्योतक दस प्रकार की भिन्न-भिन्न रुचियाँ हैं, जो सम्यग् श्रद्धा कारक है । संक्षेप में साधक की सम्यग श्रद्धा का विश्लेषण करने पर प्रमुख

तीन विषयों पर उसकी श्रद्धा का आधार दिखाई देता है, अतः इन तीन विषयों को इस तरह स्पष्ट किया है—

अरिहंतों, महदेवो, जावज्जिवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपन्नत्तंतत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं ।।

अरिहंत ही मेरे देव भगवान हैं, सुसाधु मुनिराज ही मेरे गुरु हैं, एवं सर्वज्ञ जिनोपदिष्ट तत्व ही मैं यावत-जीवन (आजीवन) पर्यंत स्वीकार करता हूँ। यहां जिनोपदिष्ट तत्व से धर्म तत्व लिया गया है। इस तरह देव-गुरु-धर्म रूप तत्व की यथार्थता को सम्यग् श्रद्धा पूर्वक स्वीकारने वाला साधक यह कहता है कि ऐसा सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन या सम्यग् श्रद्धा मैंने स्वीकार की है। इसे ही भावना रूप बनाकर साधक प्रतिदिन इसका बारबार स्मरण करता है।[1]

समकित के ६७ बोल—

पूज्य उपाध्याय यशोविजय जी महाराज ने सम्यग् दर्शन प्राप्त किए हुए सम्यग् दृष्टि साधक के स्वरूप का विवेचन करते हुए ६७ बोल मुख्य रूप से बताए हैं। अर्थात् सम्यक्त्वी कैसा होना चाहिये, उसके लक्षण क्या हैं ? वैसे ही सम्यक्त्वी की शोभा किस में हैं ? इस तरह सद्दहणा-जयणा-भावना, विनयादि कितने भेद-प्रभेद से युक्त सम्यक्त्वी का स्वरूप कैसा होता है ? यह प्रदर्शित किया है। उपाध्यायजी ने इस विषय में "समकितना ६७ बोल" की सज्झाय नामक स्वतन्त्र पुस्तक रूप में रचना की है। यद्यपि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप से अध्ययन करने योग्य है तथापि यहां पर स्थान एवं विस्तार भय से संक्षेप में उन ६७ बोलों के नाम मात्र का उल्लेख करते हैं—

तीन शुद्धि—मन, वचन, काया।

तीन लिंग—सुश्रुषा, राग वैयावच्च।

पांच लक्षण—शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य, अनुकंपा।

पांच दूषण—शंका, आकांक्षा, वितिगिच्छा, प्रशंसा और संस्तव।

पांच भूषण—स्थैर्य, प्रभावना, भक्ति, कुशलता और तीर्थ सेवा।

आठ प्रभावक—प्रवचनी, धर्म कथनी, वादी, निमित्तभावी, तपस्वी, विद्या-सम्पन्न, सिद्ध, कवि ।

छः आगार—रायाभियोगेणं, गयाभियोगेणं, बलाभियोगेणं, देवाभियोगेणं, गुरुनिग्रह, वृत्तिकान्तार ।

चार सद्दहणा—तत्वज्ञान का परिचय, तत्वज्ञानी की सेवा, व्यापन्नदर्शनी वर्जन, कुलिंगी संग वर्जन ।

छः जयणा—कुदेव या कुचैत्य के साथ ६ प्रकार का व्यवहार न करना, वंदन, नमन, दान, प्रदान, आलाप, संलाप ।

छः स्थान—अस्ति, नित्य, कर्ता, भोक्ता, मुक्ति, उपाय ।

दश विनय—निर्मलता के लिए इन दस का विनय करना—अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधु, आचार्य, उपाध्याय प्रवचनी, दर्शन ।

उपरोक्त सम्यक्त्व के ६७ अधिष्ठान स्थान हैं । इनको पहचानना और और इनका आचरण करना लाभदायी है । इससे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होती है, या प्राप्त सम्यक्त्व निर्मल होता है । इन ६७ अधिष्ठान स्थानों को सम्यक्त्व के ६७ भेद या प्रकार के रूप में भी समझे जाते हैं । ऐसा सम्यक्त्व प्राप्त जीव सम्यक्त्वी एवं सम्यग् दृष्टि बन जाता है । इसके कारण प्रत्येक क्षेत्र में वह यथार्थ एवं वास्तविक ज्ञान की बुद्धि से देखता है, जानता है और उसे मानता है ।

सम्यग् दर्शन में-जानना और मानना—

सम्यग् ज्ञान से जीव जानता है और सम्यग् दर्शन से जीव मानता है । इसलिए यदि सम्यग् ज्ञान है तो उसकी जानकारी भी सम्यग् एवं सच्ची होगी । ठीक इससे विपरीत यदि ज्ञान मिथ्या या विपरीत या भ्रमपूर्ण या संदेहास्पद या संशयात्मक होता है तो उसकी जानकारी एवं श्रद्धा भी वैसी ही विपरीत होगी । अतः सही श्रद्धा के लिए ज्ञान भी सही होना अत्यन्त आवश्यक है । दर्शन अर्थात् श्रद्धा यदि सम्यग् (सच्ची) होगी तो जीव की तत्वों के विषय में मान्यता अर्थात् मानने की वृत्ति भी सम्यग् होगी । अतः जानना और मानना यद्यपि स्वतन्त्र और भिन्न-भिन्न है तथापि यदि वे सहयोगी एवं सहभागी बन कर साथ रहेंगे तो दुगुना चौगुना लाभ होगा ।

नहीं तो यथेच्छ लाभ नहीं भी होता है। तर्क बुद्धि से देखने पर ऐसा प्रश्न खड़ा होता है कि जो जानता है वह मानता है ? या जो मानता है वह जानता है। जो जितना और जैसा जानता है, क्या वह उतना ही और वैसा ही मानता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा अनिवार्य नहीं है कि जो जाने वह माने ही, वैसे ही जो माने उसे जाने ही। यह भी कई बार अनिवार्य नहीं दिखाई देता है।

ज्ञान संग्रह के रूप में कई लोग सैकड़ों विषयों का ज्ञान (जानकारी) जरूर रखते हैं, जैसे कि मिथ्यादृष्टि जीव भी आत्मा, परमात्मा, मोक्षादि विषयों की जानकारी रखता भी है, और आजीविका के लिए दूसरों को पढ़ाता भी है, परन्तु स्वयं इन विषयों को नहीं भी मानता है अर्थात् स्वयं आत्मा परमात्मा मोक्षादि तत्वों में श्रद्धा नहीं रखता है।

अभव्य जीव भी कई बार आत्मा-परमात्मा, मोक्षादि तत्वों की जानकारी, उसका अच्छा व पर्याप्त ज्ञान भी रखता है। दीपक सम्यक्त्व के रूप में सम्यक्त्व की उपमा पाने वाला, अभव्य जीव दूसरे कई जीवों को पढ़ाकर या समझा-बुझाकर उनकी श्रद्धा उत्पन्न करा देता है लेकिन स्वयं सदा ही मिथ्यात्वी-श्रद्धाहीन रहता है। इस तरह कई जीव जानते हुए भी श्रद्धा रखने रूप मान्यता नहीं रखते हैं। वे श्रद्धा विहीन ज्ञानवान होते हैं। विद्वान् पंडित कई बार अर्हितदर्शन के आत्मा-परमात्मा, मोक्षादि तत्वों का अभ्यास करते और कराते हैं। अहिंसा आदि सिद्धान्तों पर भाषण भी देते हैं और लेख भी लिखते हैं परन्तु उसमें श्रद्धा नहीं रखते हैं। वे साफ कहते हैं कि हम मात्र आजीविका के लिए किसी को पढ़ा देते हैं, तथा पैसा मिलता हो, सम्मान मिलता हो तो भाषण भी देते हैं। लेख व पुस्तक आदि भी लिख देते हैं। परन्तु हम तो यही मानते हैं कि गाय या अश्व मारकर, उनका पुरोडास बनाकर यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यही हमारी श्रद्धा है।

जैसे मन्दिर का एक पुजारी भगवान की पूजा आदि अच्छी तरह करता है, वह क्रिया-विधि आदि की अच्छी जानकारी रखता है, परन्तु मान्यता या श्रद्धा के विषय में उससे पूछा जाय तो वह साफ कहता है कि मैं तो मात्र आजीविका के लिए यह सब काम करता हूं। मुझे नौकरी करना है, मुझे तो पैसों से मतलब है। इस प्रकार उसे श्रद्धा या मानने से कोई मतलब नहीं है। इस तरह कई जो जानते

हैं वे यदि श्रद्धा के विषय में कोरे हैं तो उनकी जानकारी निरर्थक हो जाती है। लाभदायी नहीं हो पाती है।

ठीक इसी तरह श्रद्धा के पक्ष में रहने वाला साधक यदि श्रद्धा या अपनी मान्यता सही रखते हुए भी ज्ञान या जानकारी यदि सही नहीं रखता है तो वह भी एकान्ती, एक पक्षीय बनकर निष्फल सिद्ध होता है। बिना सम्यग् ज्ञान के उसकी श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा बन जाती है। आत्मा-परमात्मा मोक्ष आदि तत्वों में ज्ञान रहित, सिर्फ मानने रूप श्रद्धा रखने मात्र से, अंध-श्रद्धालु बना हुआ, वह जल्दी बदल भी जाता है। उसे कोई कुतर्क-वितर्क पूर्वक बुद्धि कौशल से अतत्व विषय में समझाएगा तो वह उसकी तरफ झुकते हुए देरी नहीं करेगा। ऐसे अंध-श्रद्धा वाले जीवों को बहुत जल्दी बदला जा सकता है। कई बार चमत्कार आदि निमित्तों से श्रद्धा रखने वाले जीव भी जो कि सम्यग् ज्ञान रहित श्रद्धावान होते हैं, वे भी ऐसे बुद्धि चातुर्य के कुतर्क-वितर्क के जाल में फंसकर अपनी श्रद्धा छोड़ देते हैं। इसी आधार पर ऐसे ही अंधश्रद्धालु लोगों का धर्म परिवर्तन कराने का कार्य कई लोग करते हैं। उसका फायदा उठाते हैं। श्रद्धा अल्पजीवी नहीं होती है। वह सदाकाल नित्य एवं स्थायी होती है। शर्त इतनी ही है कि सम्यग्, ज्ञान जन्य एवं उस पर आधारित होनी चाहिए। अत: जानना और मानना, उभय अन्योन्य सहयोगी एवं सहोत्पन्न होनी चाहिये। हम जितना और जैसे जानें, वह ज्ञान भी सम्यग् होना चाहिये और उसके आधार पर हमारी श्रद्धा भी सम्यग् होनी चाहिए।

सम्यग् और श्रद्धा उभय की उपयोगिता—

जानना और मानना इनके द्विक् संयोगी चार भेद किये जाते हैं।

(१) जानना और मानना।

(२) मानना और जानना।

(३) न जानना और न मानना।

(४) मानना पर न जानना।

उदाहरण के लिए हम इन्हें चार प्रकार के पुत्रों के दृष्टान्त से समझ सकते हैं—

आ.श्री. कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना

(१) एक प्रकार का पुत्र वह होता है जो अपने पिता को कहता है कि पिताजी ! मैं आपको मानूंगा। परन्तु आपका कहना नहीं मानूंगा।

(२) दूसरा कहता है पिताजी ! आपका कहना मानूंगा पर आपको नहीं मानूंगा।

(३) तीसरा कहता है पिताजी ! मैं न तो आपको मानूंगा और न ही आपका कहना मानूंगा।

(४) चौथा कहता है पिताजी ! मैं आपको भी मानूंगा और आपका कहना भी मानूंगा।

पाठकों ! आप ही सोचिए कि उपरोक्त चार प्रकार के पुत्रों में से कौनसा पुत्र अच्छा और योग्य है ? प्रथम या द्वितीय दोनों प्रकार के पुत्र जो कि एकान्ती-एकपक्षीय मान्यता रखते हैं, उन्हें कैसे अच्छे मान सकते हैं ? जो पिता को न माने और उनकी आज्ञा को मानें, या आज्ञा को माने और पिता को न माने, वे दोनों ही अधूरी श्रद्धा वाले हैं। तीसरा पुत्र जो पिता और आज्ञा दोनों को ही मानने के लिए तैयार नहीं है, ऐसे तीनों प्रकार के पुत्र अयोग्य कहलाते हैं। पिता और आज्ञा दोनों को मानने वाला चौथा पुत्र ही योग्य कहलायेगा। यह तो व्यावहारिक क्षेत्र में पुत्र की बात हुई लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में भक्त और भगवान के विषय में पुत्र की ही तरह चार भेद होते है—

(१) एक प्रकार का भक्त वह होता है जो भगवान को मानता है परन्तु भगवान की आज्ञा नहीं मानता है।

(२) दूसरा जो कि पहले का ठीक उल्टा है वह भगवान की आज्ञा को तो मानता है लेकिन भगवान को मानने के लिए तैयार नहीं है।

(३) तीसरा वह है जो महामिथ्यात्वी एवं नास्तिक है, वह भगवान और भगवान की आज्ञा रूप धर्म दोनों को ही मानने के लिए तैयार नहीं है।

(४) चौथा परम् श्रद्धालु एवं आस्तिक है जो भगवान को और भगवान की आज्ञा या धर्म दोनों को समश्रद्धा से मानता है।

इस प्रकार चार पुत्रों की तरह चार प्रकार के भक्त होते हैं। उनमें मात्र चौथे प्रकार का पुत्र या भक्त ही योग्यता वाला होता है, जो श्रद्धावान एवं आस्तिक होता है। अन्य तीनों प्रकार के पुत्र एवं भक्त अयोग्य-नास्तिक एवं अनाज्ञाकारी होते हैं। जिस तरह एक पिता उपरोक्त तीनों प्रकार के पुत्रों को पुत्र होते हुए भी

अयोग्य मानते हैं और असन्तुष्ट रहते हैं, ठीक वैसे ही शास्त्र तीनों प्रकार के भक्तों (उपासकों) को अयोग्य ठहराता है। इन पुत्रों की तरह कई भक्त ऐसी विचारधारा वाले होते हैं जो भगवान को मानते हुए भी भगवान की आज्ञारूप धर्म को नहीं मानते हैं, क्योंकि भगवान की आज्ञा रूप धर्म को मानना बहुत कठिन होता है जबकि भगवान को मानना बड़ा आसान है। भगवान को मानने में मात्र उनका स्वरूप या जीवन चरित्र सुनकर या समझकर तथा चमत्कार जन्य निमित्तों की श्रद्धा से मानना बड़ा आसान लगता है, जबकि भगवान के द्वारा कहे हुए तत्व या आज्ञा रूप धर्म को मानने या स्वीकारने में पढ़ना, समझना, जानना, सोचना, विचारना, चिन्तन करना, मनन करना, परीक्षण करना और फिर दिमाग में बैठाना, एवं इतना ही नहीं, पुनः उसका जीवन में आचरण करना तथा उसे सम्यग् श्रद्धा में स्थिर करना, बड़ा कठिन, लोहे के चने चबाने जैसा लगता है। इसलिये सरल होने से भगवान को मानने के लिए वह तैयार है लेकिन भगवान के कहे हुए तत्व व आज्ञा रूप धर्म को स्वीकार करने को वह जल्दी तैयार नहीं होता है। जैसे पीला देखकर सोना खरीदना आसान होता है, परन्तु कस लगाकर कसौटी पर कसना, छेद, भेद, ताप आदि से परीक्षा करके ठगे न जाय, इस वृत्ति से खरीदना कठिन होता है।

संख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो तीसरे नम्बर का पुत्र या भक्त जो सर्वथा नास्तिक एवं अयोग्य है अर्थात् जो भगवान और भगवान की आज्ञा रूप धर्म को मानने और स्वीकारने को सर्वथा तैयार नहीं है, ऐसे लोगों की संख्या संसार में सबसे ज्यादा है। दूसरे नम्बर पर भगवान को मानना लेकिन भगवान के कहे हुए, तत्व या आज्ञा रूप धर्म को न मानने वालों की संख्या आती है। तीसरे नम्बर पर भगवान के कहे हुए तत्व या आज्ञारूप धर्म को मानने वाले, परन्तु भगवान को न मानने वाले लोगों की संख्या भी इस संसार में है। अब रही बात चौथे नम्बर का। सच्चा धर्मी एवं आस्तिक-श्रद्धालु वही है जो भगवान को और भगवान की आज्ञा रूप धर्म को समान रूप से मानता, स्वीकारता, जानता, आचरण करता है। यद्यपि इस चौथे प्रकार के भक्त या पुत्र के जैसे लोगों की संख्या संसार में अल्प ही क्यों न हो, फिर भी है तो सही।

जैसे कि जिसके पास नाव हो और वह उसे चलाना भी जानना है, तो वह पार पहुँच जाता है। वैसे ही चौथे नम्बर का उपासक संसार समुद्र तैर जाता है। इस तरह सही जानना और सही मानना यही सम्यग् दर्शी की सच्ची दृष्टि कहलाती

है, अत: सम्यग् दृष्टि जीव सत्य को सत्य ही कहेगा और असत्य को असत्य ही कहेगा।

सत्य-असत्य की चतुर्भंगी—

(१) TRUE + FALSE = FALSE ×

(2) FALSE + TRUE = FALSE ×

(3) FALSE + FALSE = FALSE ✓

(४) TRUE + TRUE = TRUE ✓

जो सत्य को असत्य के साथ मिला देता है वह मिथ्यात्वी कहलाता है क्योंकि सत्य-असत्य के साथ मिलकर अन्त में असत्य ही हो जाता है, अत: यह सम्यग् दर्शन के क्षेत्र में नहीं आता है।

दूसरा भेद पहले का विपरीत है, परन्तु फर्क इतना ही है कि पहला सत्य को असत्य में मिलाता हैं जबकि दूसरा असत्य को सत्य में मिलाता है, जैसे दूध में पानी मिलावे या पानी में दूध मिलावे। इसमें जितना भेद है उतना ही अन्तर उपरोक्त दो भेदों में हैं। असत्य में सत्य मिलाने पर भी अन्त में असत्य ही रहता है। अत: यह भी मिथ्यात्व का भेद हो जाता है, सम्यक्त्व का नहीं।

इस तरह मिथ्यात्वी जीव उपरोक्त दो भेदों वाला होता है। वह स्पष्ट सत्य स्वरूप को कभी जान नहीं सकता है। वैसे ही मानना, देखना, बोलना आदि भी विपरीत ही करता है। असत्य को सत्य बनाना या सत्य को असत्य बनाना, ये दोनों प्रक्रियाएँ विपरीतकरण मिथ्याभाव की है।

तीसरे नम्बर का भेद, जिसमें असत्य को असत्य ही कहना यह सम्यग्-दृष्टि का कार्य है। असत्य को असत्य कहने के फलस्वरूप असत्य की नहीं लेकिन सत्य की ही उत्पत्ति होती है। अन्तत: सत्य ही प्रकट होना है। इसमें मिथ्या बुद्धि नहीं होती है, परन्तु सम्यग् दृष्टि की हिम्मत होती है, उसका साहस होता हैं जिससे वह असत्य ही कहने, मानने, जानने आदि के लिए कटिबद्ध होता है।

चौथा भेद शुद्ध सम्यक्त्व का है। इसमें सत्य को सम्पूर्ण सत्य के रूप में ही स्वीकारने की तैयारी होती है। वह सत्य को कभी भी विकृत नहीं करता है।

उसमें असत्यादि की मिलावट नहीं करता है। सत्य का प्राकृतिक एवं वास्तविक स्वरूप स्वीकार करना यह चौथे भेद का कार्य है। यह जानने, मानने, देखने आदि सभी क्षेत्र में सत्य को सत्य रूप में ही स्वीकार करता है।

संसार में ऐसे चार प्रकार के जीव होते हैं, जिसमें पहले और दूसरे प्रकार के जीव बहुसंख्य होते हैं, जबकि तीसरे प्रकार के जीव बहुत कम होते हैं और चौथे प्रकार के जीव सबसे कम याने अल्प होते हैं।

यद्यपि वकीलों का कार्य असत्य को असत्य रूप में एवं सत्य को सत्य रूप में सिद्ध करने का था, परन्तु स्वार्थवृत्ति वश वे भी इन दिनों दोनों भेदों को छोड़कर पहले दूसरे भेद की तरह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य में परिणत करने रूप सिद्ध करने का काम करते हैं। यह मिथ्या-विपरीत प्रवृत्ति ही है। अतः मनुष्य को सत्य का आग्रही, सत्यान्वेषी, सत्य का पक्षपाती एवं सम्यग् दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्वी ही बनना चाहिये। वही जगत को सही एवं सच्चा न्याय दे सकेगा, जैसाकि भूतकाल के अनेक महापुरुषों ने किया था। इनमें सुलषा जैसी महान श्राविका का भी नामोल्लेख किया गया है।

सुलषा के सम्यक्त्व की परीक्षा—

राजगृही नगरी की तरफ जाते हुए, अंबड नामक परिवाज्रक के साथ भगवान महावीर प्रभु ने सुलषा नामक श्राविका के लिए "धर्म लाभ" का आशीर्वाद भिजवाया और कहा, हे अंबड! तुम राजगृही जाकर सुलषा नामक श्राविका को मेरा धर्म लाभ का सन्देश जरूर कहना। अंबड राजगृही गया परन्तु उसने मन में सोचा कि सुलषा कैसी औरत है? यह कितनी बड़ी और महान् स्त्री है? जिसे भगवान महावीर ने धर्म लाभ कहलवाया है। और किसी को नहीं परन्तु महावीर ने सुलषा को ही धर्मलाभ क्यों कहलवाया?

इस तरह ऊहापोह मन में करता हुआ अंबड परिवाज्रक सुलषा की परीक्षा करने के लिये कमर कसता है। वह राजगृही नगरी के बाहर ब्रह्मा का रूप बनाकर लोगों को आशीर्वाद देने लगा। उसकी धारणा थी कि शायद इस प्रसिद्धि व प्रचार के कारण सभी के बीच सुलषा भी अवश्य आवेगी। हुआ ठीक इसके विपरीत। अपनी शक्ति से रूप बदलते हुए अंबड ने बाद में शंकर, कृष्ण, विष्णु इत्यादि के

रूप धारण किए। उसने बहुत बड़ी मायाजाल खड़ी कर दी। नगर के हजारों-लाखों लोग उसके आशीर्वादार्थ एवं दर्शनार्थ उमड़ने लगे। अंबड उनमें सुलषा को ढ़ढने लगा। आखिर सुलषा न आई, सो नहीं आई। अन्त में थककर, परेशान होकर उसने तीर्थंकर का रूप बनाया और अपनी मायाजाल से समवसरण का रूप निर्माण किया। यह प्रचारित किया गया कि पच्चीसवें तीर्थंकर राजगृही नगरी में पधारे हैं और सबको धर्म लाभ दे रहे हैं। ऐसी खूब प्रसिद्धि सुनकर हजारों-लाखों लोगों की भीड़ जमने लगी, परन्तु इससे भी सुलषा टस से मस न हुई। सत्यवादी सम्यग् दृष्टि सुलषा ने जो कभी भी असत्य को सत्य एवं सत्य को असत्य कहने के लिए तैयारनहीं थी, सत्य सिद्धान्त शास्त्र के आधार पर विचार किया कि—

तीर्थंकर तो मात्र चौबीस ही होते हैं। पच्चीसवें तीर्थंकर न तो कभी हुए हैं और न कभी होंगे। इतना ही नहीं वरन् इस भरत क्षेत्र में एक समय में एक साथ दो तीर्थंकर कभी भी नहीं होते हैं। ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। वर्तमान में जबकि चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी विद्यमान हैं, तब फिर पच्चीसवें तीर्थंकर के होने या आने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। भले ही समवसरण आदि की रचना क्यों न हो, परन्तु पच्चीसवें तीर्थंकर तो हो ही नहीं सकते हैं।

इस प्रकार अपने सम्यग् रूप सच्ची श्रद्धा से परीक्षा करके सुलषा श्राविका समवसरण की रचना सुनकर भी सर्वथा रंजमात्र भी विचलित न हुई और न गई। आखिर हार स्वीकार कर अंबड परिवाज्रक एक श्रावक का रूप लेकर सुलषा श्राविका के घर पहुँचा और हाथ जोड़ते हुए, नतमस्तक होकर विनीत भाव से सुलषा को कहा कि—हे देवी ! आपको भगवान महावीर ने धर्मलाभ कहलवाया है। यह सुनते ही सच्चे तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु महावीर का नाम एवं उनकी तरफ से "धर्मलाभ" का सन्देश सुनते ही सुलषा हर्ष विभोर होकर नाच उठी।

वास्तव में सुलषा सत्यशोधक यथार्थ तत्व रुचिवाली एवं शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्राविका थी, जिसने सम्यग् दर्शन से अपना जीवन धन्य बनाते हुए, ऐसी अनुपम साधना की जिससे उसने तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया। आगामी चौबीसी में तीथकर बनकर मोक्ष जाने का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसी एक विदुषी श्राविका के जैसी ही सम्यग् श्रद्धा हमें भी रखनी चाहिए, जिससे हम भी शुद्ध सम्यग् दृष्टि वाले बन सकें।

अंध श्रद्धा और सम्यग् श्रद्धा—

श्रद्धा दो प्रकार की होती है—(१) सम्यग् श्रद्धा, (२) अंध श्रद्धा। सम्यग् ज्ञान जन्य श्रद्धा को सम्यग् श्रद्धा कहते हैं। ठीक इससे विपरीत अंध श्रद्धा में तत्व विषयक सम्यग् ज्ञान या तत्व रुचि आदि उत्पन्न नहीं होती है, परन्तु चमत्कार जन्य दु:ख निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति के निमित्तों से उत्पन्न हुई श्रद्धा अंध श्रद्धा कहलाती है। अंध श्रद्धालु व्यक्ति तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए या तत्वार्थ या यथार्थ, वास्तविक सत्यज्ञान के लिए कोई प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं करता है क्योंकि वह मूलत: तत्वरुचि जीव नहीं है। अत: वह आत्मा-परमात्मा मोक्षादि तत्वों में न तो ज्ञान ही सम्यग् रखता है और न ही सम्यग् श्रद्धा रखता है। अंध श्रद्धालु मात्र संसार का रागी एवं सुख लिप्सु जीव रहता है। येनकेन उपायेन दु:ख निवृत्ति हो जाय और सुख की प्राप्ति हो जाये ऐसे निमित्तों को ही वह मानता है। चाहे ये कार्य भगवान के नाम से, देवी-देवताओं के नाम से या त्यागी-तपस्वी गुरुओं के आशीर्वाद से पूर्ण हों। परन्तु उसे देव-गुरु-धर्म की आराधना-भक्ति या उपासना से जितना मतलब नहीं होता है, उससे ज्यादा सुख प्राप्ति का एवं दु:ख निवृत्ति का उसका लक्ष्य होता है।

शादी होना, संतानोत्पत्ति होना, सम्पत्ति की प्राप्ति होना, ऐश्वर्य भोग-विलास के साधनों की प्राप्ति होना, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि की प्राप्ति होना, इन्हीं सब सांसारिक सुखों को सुख प्राप्ति रूप मानकर वह बैठा है। अत: इनकी प्राप्ति के लक्ष्य से वह देव-गुरु-धर्म का भी उपयोग करता है। भगवान के दर्शन-पूजा-पाठ, यात्रा आदि एवं स्त्रोत पाठ, जपादि सम्यग् साधना को भी वह सुख प्राप्ति के लिए करता है।

"कौए का बैठना और डाली का गिरना" ऐसे आकस्मिक निमित्त की तरह वह देव-गुरु-धर्म की साधना से चमत्कारिक निमित्तों को मानकर उनमें अंध श्रद्धा रख लेता है। और उनकी उपासना इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए करता रहता है। देव-देवियों के पास जाकर सन्तान या सम्पत्ति प्राप्ति हेतु मानता या आखड़ी रखता है। लॉटरी खुल जावे, इसके लिए वह देव-गुरु के आर्शीवाद प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता है। चमत्कार करने वालों के पीछे वह अंधश्रद्धा से भागता-फिरता है। वीतराग भगवान और त्यागी तपस्वी गुरुओं को एवं देव-देवियों को वह अपनी

इच्छा पूर्ति का निमित्त एवं आधारभूत कारण मान लेता है। इसी तरह वह शंख, श्रीफल आदि कई प्रकार की विधियों में आशा रखकर अंधश्रद्धा से भागता रहता है।

जिन देव-गुरु-धर्म का उपयोग संसार निवृत्ति, भव-मुक्ति एवं आत्म कल्याण तथा कर्म-क्षय (निर्जरा) रूप, आत्म शुद्धि के लिये था, उनका उपयोग अंधश्रद्धालु व्यक्ति ने सांसारिक दुःख निवृत्ति तथा भौतिक पौद्गलिक, वैषयिक सुख प्राप्ति के लिए किया। यहां जाने से सुखी बनूंगा, इनसे मेरी इच्छा पूर्ति होगी, उनसे आशा फलीभूत होगी, ऐसी अंधश्रद्धा की विचारधारा में वह, यहाँ-वहाँ भागता-फिरता है। जो भी देव हो, वह उनके सैकड़ों मन्त्रों का जाप करता रहता है। वह यहाँ-वहाँ किसी भी देव के पास जाता रहता है।

इस प्रकार की सम्यग् तत्व-ज्ञान रहित अंध-श्रद्धा का पतन एवं परिवर्तन जल्दी हो सकता है, उसे कोई भी जल्दी से बदल सकता है, क्योंकि ज्ञानजन्य श्रद्धा न होने के कारण वह कभी भी अपनी श्रद्धा से च्युत हो सकता है। इसलिए सही एवं सच्ची श्रद्धा को महापुरुषों ने सम्यग्-तत्वज्ञान जन्य बताई है। आत्मा-परमात्मा, मोक्षादि तत्वों के यथार्थ, वास्तविक ज्ञान जन्य सम्यग् दर्शन रूप सच्ची श्रद्धा को ही सम्यग् श्रद्धा कहते हैं। यही सम्यग् श्रद्धा देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, उनकी आराधना या उपासना सम्यग् कराती है। आचरण भी सही होता है। उनकी उपासना कर्मक्षय रूप निर्जरा-प्रधान एवं आत्म-कल्याणकारी होती है। ऐसे सम्यग् दर्शन से ही भव मुक्ति, संसार मुक्ति-आत्मा शुद्धि एवं मोक्ष सिद्धि मिलती है।

सम्यग् दर्शन की अनिवार्यता पर जोर देते हुए श्री वीर प्रभु ने यहां तक कह दिया है कि —

दंसण भट्ठो भट्ठो, दंसण रहिया न सिज्झई।
चरण रहिया सिज्झइ, दंसण रहिया न सिज्झई॥
—उत्तराध्ययन सूत्र

सम्यग् दर्शन से भ्रष्ट, भ्रष्ट ही गिना जाता है, ऐसा सम्यग् दर्शन रहित जीव सिद्ध नहीं होता है, चारित्र से रहित जीव कदाचित मुक्त हो भी जाय, परन्तु सम्यग् दर्शन रहित जीव को कभी भी मोक्ष नहीं मिलता है। अतः मोक्ष प्राप्ति के

लिए, सम्यग् दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य है। सम्यग् दर्शन मोक्ष प्राप्ति की प्राथमिक आवश्यकता है। अतः सम्यग् दर्शन के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये।

एसो पंच नमुक्कारो—

श्री नमस्कार महामंत्र के छट्ठे पद पर "**एसो पंच नमुक्कारो**" पाठ दिया गया है। इसमें "एसो पंच नमुक्कारों" शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण एवं कीमती हैं। नमस्कार महामन्त्र के इस छट्ठे पद की तुलना नव पद के छठ्ठे सम्यग्दर्शन पद के साथ करने पर दोनों में समानता याने सादृश्यता स्पष्ट दिखाई देती है। इससे यह प्रतीत होता है कि "**ऐसो पंच नमुक्कारो**" के अर्थ में ही सम्यग् दर्शन का सही अर्थ है। एसो + पंच + नमुक्कारों = **एसो पंच नमुक्कारो**। ऐसो = इन (यही) पंच = ५ (**पंच** परमेष्टी अर्थात् नवकार मंत्र में उपरोक्त पांच पदों में जो अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय सर्व साधु आदि पंच परमेष्टी हैं, उन्हीं पाँच का "**एसो पंच**" पद से अर्थग्रहण किया गया हैं। इन पांच को ही नमस्कार है। यही अभिग्रहिक, अनभिग्रहिक आदि मिथ्यात्व निवृत्ति रूपक सच्चा नमस्कार किया गया हैं। इससे स्पष्ट सम्यग् दर्शन रूप सच्ची श्रद्धा का बोध होता हैं। अतः "**एसो पंच नमुक्कारो**" यह छठा पद नवपद के छट्ठे पद सम्यग्दर्शन का सही अर्थ में द्योतक है। इसमें "**पंच**" संख्यावाची शब्द से और "**ऐसो**" अर्थात् इन्हीं पांच—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु के अलावा किसी अन्य को ग्राह्य नहीं किया गया है। अतः छट्ठे पद से इन और ऐसे पांच अरिहंतादि को नमस्कार किया गया है, अर्थात् (१) अरिहंत ऐसे वीतराग भगवान को नमस्कार, (२) सिद्ध, बुद्ध मुक्त ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार (३) पंचाचार प्रवीण ऐसे आचार्य भगवन्तों को नमस्कार, (४) पाठक एवं वाचकवर्य ज्ञानदाता ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार, (५) समस्त लोक में रहे हुए, सिद्धि मार्ग के साधक, विरक्त, वैरागी, त्यागी, तपस्वी साधु-मुनिराजों को नमस्कार किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं। अतः "ऐसो पंच" यह पद एक मर्यादा एवं सीमा बांधने वाला होता है। जो अरिहंत, सिद्धादि पांच की व्याख्या एवं पद पर आते हैं, उन्हें नमस्कार अवश्य किया गया है, परन्तु इन पांच की व्याख्या में जो नहीं आता है एवं इन पांच के जैसा स्वरूप जिनका नहीं है, उनको नमस्कार नहीं किया गया है। यह प्रमाण दिखाने के लिए अरिहंत आदि पांचों के नियत गुणों की संख्या निम्नानुसार दर्शाई गई है—

१.	अरिहंत के	—	१२ गुण
२.	सिद्ध के	—	८ गुण
३.	आचार्य के	—	३६ गुण
४.	उपाध्याय के	—	२५ गुण
५.	साधु के	—	२७ गुण
	इन पांचों (पंच परमेष्ठि) के कुल		१०८ गुण हैं।

उपरोक्त गुण ही पंच परमेष्ठि के स्वरूप के द्योतक हैं। गुण ही गुणी के सच्चे द्योतक होते हैं अर्थात् गुण से ही गुणी का सच्चा स्वरूप पहचाना जाता है। गुण और गुणी में अभेद सम्बन्ध है।

"**एसो पंच नमुक्कारो**" पद में संख्यावाची "**पंच**" शब्द से "**न न्यूनाधिक्य**" का स्पष्ट बोध होता है, अर्थात् पाँच से तो न कम और न ही अधिक, निश्चितता एवं स्थिरता का बोध "**पांच**" शब्द कराता है। अतः न न्यून याने इन पांच परमेष्ठि से कम संख्या में अर्थात २-३ या ४ ही मानें ओर १-२ को न मानें तथा माने हुए २-३ को ही नमस्कार करें, उन्हीं के प्रति श्रद्धा रखें और अन्य १-२ के प्रति श्रद्धा न रखें, न मानें, नमस्कारादि न करें, वह सही अर्थ में सम्यक्त्वी नहीं कहलायेगा। इन पंच परमेष्ठि में दो देव और तीन गुरु मिलाकर पांच होते हैं। अरिहंत और सिद्ध ये दो देव (भगवान) है और आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये तीन गुरु हैं। कोई यह कहे कि मैं तो प्रत्यक्ष दिखाई देते, इन गुरुओं को ही मानता हूं परन्तु देव तत्व जो परोक्ष हैं, उन्हें नहीं मानता हूँ तो वह पांचों ही परमेष्ठि को न मानने के कारण मिथ्यात्वी कहलाता है। ठीक इससे विपरीत कोई देव तत्व को मानें और गुरु तत्व को न मानें तो वह भी मिथ्यात्वी कहलाता है। अतः "**एसो पंच नमुक्कारो** पद से पांचों ही परमेष्ठि को संयुक्त रूप से मानते हुए, नमस्कार करना यही सम्यग् दर्शन है। न न्यूनाधिक अर्थात् कम-ज्यादा मानना।

व्यक्तिगत समकित देने की दुकान—

सम्यक्त्व कोई बाजारू चीज नहीं है अर्थात् २-५ रुपये में यह बाजार में बिकता नहीं है। सम्यक् दर्शन यह आत्मा का गुण है, जो तत्वार्थ श्रद्धा से प्रकट होता

है। गुरु आदि व्यक्ति अधिगम मार्ग से उत्पन्न सम्यक्त्व में निमित्त मात्र हैं। फिर भी अधिगम मार्ग से किसी को सम्यक्त्व प्राप्त कराने में सहायक निमित्त बने हुए उपदेशक गुरु आदि ही "मेरा समकित लो—मेरा समकित लो" "इस प्रकार दुकानदार की तरह अपनी पुड़ियाँ में बांध कर समकित बेचते हैं। उनके ऐसे समकित का छिपा हुआ अर्थ यह है कि—"मुझे ही मानों और किसी को नहीं।" मैं जो कहता हूं, वैसे ही, और वही करो। दूसरों को मत मानों और दूसरों का कहा हुआ भी मत मानों। मेरे ही सम्प्रदाय, पंथ या गच्छ को मानों और अन्य किसी सम्प्रदाय पंथ या गच्छ को मत मानों। मुझे ही वन्दन करो और किसी को हाथ मत जोड़ो। ऐसा हल्दी के गांठ की पुड़िया की तरह वे अपना समकित बेचते हैं। खरीददार ग्राहक भी सन्तुष्टि के साथ ऐसा मानता है कि—"मैंने अमुक महाराज सा. से समकित लिया है। मैं अमुक महाराज सा. को ही मानता हूँ। अन्य महाराज सा. को नहीं मानता। ऐसा बाजारू समकित बेचने वाले व्यापारी भी हैं, एवं खरीदने वाले ग्राहक भी हैं।

वास्तव में देखा जाय तो इस वृत्ति में न तो कोई सम्यक्त्व है और न ही कोई श्रद्धा है। यह मात्र सम्प्रदाय की खिचड़ी पकाने का चूल्हा है। जिस तरह एक व्यापारी अपने ग्राहक खड़े करता है, वैसे ही व्यक्तिगत समकितदाता गुरु अपने निजी भक्त खड़े करते हैं, न कि सच्चे तत्वार्थ श्रद्धालु सम्यग्दर्शनी। इससे सम्प्रदायवाद का विष पनपता है। परिणामस्वरूप राग-द्वेष की वृद्धि होती है और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण बनता है। इसमें क्रोधादि कषाय पलते हैं, जिससे समय आने पर हिंसा आदि पापाचार भी होता है। एक ही धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले परस्पर निन्दा आदि करते हुए; अपनी साम्प्रदायिक नींव मजबूत करते हैं। इस तरह अपनी दुकानदारी चलाते हैं। राजघरानों में जैसे विष कन्या निर्माण की जाती थी वैसे ही सम्प्रदायवाद के जहर वाले विषैले भक्त निर्माण करने का काम कलियुग में अपना समकित बेचने वाले करते हैं।

"समकित" या सम्यग् दर्शन यह किसी की व्यक्तिगत धरोहर नहीं है। यह तत्वार्थ श्रद्धान् स्वरूप आत्म गुण रूप है। यथार्थ सत्व किसी व्यक्ति विशेष के घर का नहीं होता है, यह सूर्य के प्रकाश की तरह सर्व व्यापी होता है। चरम सत्य का स्वरूप एक ही होता है न कि भिन्न-भिन्न। अतः अच्छा यह हो कि हम किसी व्यक्ति विशेष को ही मानने का व्यक्तिगत समकित न स्वीकारते हुए, यथार्थ तत्व, श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन ही स्वीकार करें।

इसी तरह व्यक्तिगत समकित दाताओं का सही कर्तव्य यह है कि साधक को देव-गुरु-धर्म एवं आत्मा-परमात्मा-मोक्षादि यथार्थ तत्वों का सम्यग् धन उपार्जन कराते हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त करावें। गुरु को चाहिये कि वे अपनी महत्ता न दिखाते हुए, वीतराग, सर्वज्ञ प्रभु की महत्ता दिखाए। साधक को अपना निजी भक्त न बनाते हुए सर्वज्ञ वीतरागी अरिहंत प्रभु का भक्त बनावें। उसे अपने कहे हुए मार्ग पर न चलाते हुए, सर्वज्ञोपदिष्ट तीर्थंकर कथित धर्म मार्ग पर चलाने का कर्तव्य गुरु को निभाना चाहिये। साधक को मुझे मानने रूप मेरे में ही श्रद्धा रखो, ऐसा न कहते हुए सर्वज्ञ वीतरागी–अरिहंत भगवान में एवं उनके वचन में श्रद्धा रखो, ऐसा सिखाना चाहिए। यही गुरु का कर्तव्य है।

वास्तव में ऐसा शुद्ध सम्यग्दर्शन सभी जीवों को प्राप्त कराना, यह गुरु का मुख्य कर्तव्य है। इस नीति का पालन करने से सम्प्रदायवाद का विष कम होगा और शाश्वत धर्म का झण्डा सदा ही लहराता रहेगा। इस तरह व्यक्तिगत समकित बेचने की दुकानदारी चलाना महापाप है।

सम्राट श्रेणिक की श्रद्धा की कसौटी—

मगध देश की राजधानी राजगृही नगरी के अधिपति सम्राट श्रेणिक महाराजा चरम तीर्थंपति श्रमण परमात्मा श्री भगवान महावीर स्वामी के परम उपासक बने थे। सर्वज्ञ प्रभु से समस्त तत्वों का यथार्थ सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके सच्चे परम श्रद्धालु बने थे। उनका सम्यग्दर्शन विशुद्ध कक्षा का था। यद्यपि वे अविरति के उदय वाले थे, अतः उनके जीवन में सामायिक-व्रत-पच्चक्खाण आदि विरति धर्म नहीं आ सका था। चारित्र मोहनीय का प्रबल उदय था जिससे व्रत-पच्चक्खाण विरति का आचरण वे नहीं कर पाये। लेकिन दर्शन मोहनीय कर्म एवं अनन्तानुबन्धी सप्तक के सर्वथा क्षय होने से वे विशुद्ध सम्यक्दर्शन पा सके एवं उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए, अपने सम्यग् दर्शन को "क्षायिक" की कक्षा में पहुँचा सके। जीवनभर परमात्मा महावीर प्रभु की परम भक्ति करके मात्र सम्यग्श्रद्धा के बल पर उन्होंने सर्वोच्च कक्षा तीर्थंकर नाम कर्म भी उपार्जन किया, जिसके फलस्वरूप वे आगामी चौबीसी में पद्मनाभस्वामी नामक प्रथम तीर्थंकर बनकर मोक्ष सिधारेंगे।

देवलोक के देवताओं ने सम्राट श्रेणिक के सम्यग् दर्शन की कई बार विचित्र ढंग से परीक्षा भी की । गर्भवती साध्वी एवं मच्छीमार साधु का रूप लेकर देवताओं ने उनकी सचोट श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न भी किया; परन्तु श्रेणिक जैसे परम श्रद्धालु राजा अपनी श्रद्धा में अचल-अटल रहे । कठिन कसौटियों में से पसार हुए, वे धन्य थे । ऐसे शुद्ध सम्यक्त्वी श्रेणिक महाराजा थे ।

❀ ❀ ❀ ❀

महासती परम श्रद्धालु सुलषा श्राविका के जीवन में प्रथम संतानोत्पत्ति का अभाव होते हुए भी उन्होंने कभी भी अपनी सम्यग्श्रद्धा को विचलित नहीं किया । उन्होंने कभी रागी-द्वेषी-देवी-देवताओं की मानता, आखड़ी मानने का पाप नहीं किया । उन्होंने मिथ्या धर्म का आचरण कभी भी नहीं किया । योगानुयोग बत्तीस पुत्रों की प्राप्ति होने पर एवं भवितव्यतावश बत्तीस ही पुत्रों की चेड़ा राजा के साथ युद्ध में मृत्यु भी हो गई, तथापि उन्हें रंज मात्र भी शोक नहीं हुआ । अंबड परिव्राजक की परीक्षा में भी पार उतरकर सुलषा श्राविका ने अपने सम्यग् दर्शन की सही अर्थ में रक्षा की, एवं आगामी चौवीसी में तीर्थंकर बनने का सौभाग्य प्राप्त किया ।

❀ ❀ ❀ ❀

मालवदेश की उज्जयिनी (उज्जैन) नगरी के प्रजापाल राजा की दो पुत्रियां थीं । मिथ्याशास्त्र पढ़ी हुई सुर सुन्दरी, मिथ्यामति थी जबकि कर्म-धर्म का सम्यग् सिद्धान्त पढ़ी हुई मयणा सुन्दरी शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्राविका थी, जिसने अपने पति श्रीपाल राजा को भी शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्रावक बनाया था । मयणा श्रीपाल के जीवन में आए हुए सैकड़ों कष्टों एवं दुःखों के द्वारा उनकी सम्यग् दृष्टि-श्रद्धा की परीक्षा हुई । फिर भी श्रीपाल-मयणा दम्पत्ति श्रद्धा की कसौटी पर पूरे सौ टका खरे उतरे । सिद्धचक्र रूप नवपद की परमभक्ति एवं उपासना करके, उन्होंने अपना कल्याण साध लिया । इस तरह उन्होंने नवें भव में मोक्ष जाने का अधिकार प्राप्त किया । ऐसे सम्यग् श्रद्धावंत मयणा–श्रीपाल का आदर्श आज भी "श्रीपाल रास" के रूप में उपलब्ध है ।

महाराजा श्रीकृष्ण ने भगवान नेमीनाथ से सम्यग् धर्म एवं जीवादि तत्वों का सम्यग् ज्ञान समझकर सम्यग् दर्शन प्रकट किया। यद्यपि व्रत-विरति-पच्चक्खाण का आचरण उनसे नहीं हो पाया, फिर भी यादवाधिपति श्रीकृष्ण ने सही सम्यग्दर्शन के आधार पर आगामी चौबीसी में तीर्थंकर बनने का सर्वोच्च पुण्य उपार्जन किया। वे १२ वें अममस्वामी नामक तीर्थंकर बनकर मोक्ष में जावेंगे।

❀ ❀ ❀ ❀

परम जिनभक्त रावण विशुद्ध ने सम्यग् दर्शन के बल पर पत्नी मन्दोदरी के साथ, अष्टापद गिरी (महातीर्थ) पर प्रभु भक्ति में तल्लीन बनकर तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया। महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर बनकर, वे भी मोक्ष में जावेंगे।

❀ ❀ ❀ ❀

ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात की गद्दी पर आए राजा कुमारपाल ने कलि-काल सर्वज्ञ पू. हेमचन्द्राचार्य महाराज से अरिहंत धर्म प्राप्त करके, परम शुद्ध सम्यक्त्व रत्न प्राप्त किया। साथ ही देश विरति रूप श्रावक धर्म योग्य बारह व्रत स्वीकार करके वे परमार्हत् जैन श्रावक बने। उनकी सम्यग् श्रद्धा अनुपम एवं विशुद्ध कक्षा की थी। उन्होंने भी स्व-आतमा का कल्याण साधा एवं अल्प भवों में ही मोक्ष सिधावेंगे।

शास्त्रों में ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त हैं एवं चरित्र ग्रन्थों में ऐसे अनेक महापुरुषों के चरित्र लिखे गये हैं, जिन्होंने सम्यग् दर्शन रूपी रत्न को पाकर ही मोक्ष गये हैं। तथा अनागत (भविष्य) काल में भी जावेंगे। ऐसे सम्यग्-दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति हो, इसलिए परमात्मा पार्श्व प्रभु के चरण कमल में अन्तिम प्रार्थना इस प्रकार की गई है—

तुह सम्मत्ते लद्धे चिन्तामणि कप्पपाय वब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरा मरं ठाणं ॥४॥

"**श्री उवसग्गहरं स्त्रोत**" में चौदह (चर्तुदश) पूर्वधारी प. पूज्य भद्रबाहु स्वामी लिखते हैं कि—हे प्रभु! चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक

(महिमाशाली-लाभदायक) ऐसा आपका सम्यग् दर्शन-सम्यक्त्व रूपी रत्न पाकर अनेक जीव निर्विघ्न-विघ्नरहित, जन्म-मरण रहित अजरामर ऐसे मोक्ष पद को यथाशीघ्र ही प्राप्त करते हैं।

यही प्रार्थना मैं मेरे लिए करता हूँ कि मैं भी ऐसा आपका विशुद्ध सम्यग् दर्शन प्राप्त करके मोक्ष पद को प्राप्त करूं। इसी तरह अनेक भव्यात्माएँ भी आपको परम श्रद्धा रूप सम्यग् दर्शन-सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त करके भविष्य में मोक्ष पद को प्राप्त करें। ऐसे सभी जीवों के प्रति शुभ मनोकामना एवं प्रार्थना प्रभु चरण में शुद्ध भाव से प्रकट करता हूँ। सभी विशुद्ध श्रद्धालु बनें। सभी का कल्याण हो। इसी शुभेच्छा के साथ..........समाप्तम्।

"सर्वेऽपि सन्तु श्रद्धावन्तः।"

卐 इति शं भवतु सर्वेषाम् 卐

मंगलचंद ग्रुप के संस्थापक

स्व० श्री चौधरी मंगलचंदजी छगनाजी

के स्मरणार्थ

जन्म : २४-३-१९०९ स्वर्गवास : १३-५-१९७१

आपके द्वारा व आपके परिवार द्वारा निम्न शुभ कार्य साधर्मिक भाई बहनों के लिये कराया व अपने जीवन की आत्मा की शुद्धि के लिये साथ में खुद ने भी भाग लिया।

उपधानतप, आबुजीयात्रा संघ एवम् आबु में घर मन्दिर, मंडार में उपाश्रय, कलकत्ता में पाठशाला, समेत शिखरजी का छरीपालता संघ, आबुरोडमे तीनों विषयों के साथ डिग्री कालेज, मंडार में नवकारशी, वरषीदान आदि के कार्यों में धन द्रव्य की सद-उपयोग किया।

श्री सुमतिनाथाय नमः 卐

प. पू. मुनिराज श्री अरुणविजयजी महाराज साहेब

आदि मुनि मण्डल के

वि० सं० २०४३ के चातुर्मास में

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ जयपुर द्वारा

सर्व प्रथमबार आयोजित

चातुर्मासिक रविवारीय धार्मिक शिक्षण शिविर

में चल रही

रविवासरीय सचित्र व्याख्यानमाला

卐 "कर्म की गति न्यारी" 卐

विषयक प्रवचन शृङ्खला की प्रस्तुत यह छठो पुस्तिका

श्रीमति जीवनकुमारी हीराभाई चौधरी

की भावना से एवम दस उपवास के यादगार में

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ, जयपुर ने

मुद्रित करवाकर प्रकाशित की है।

मुद्रक : अजन्ता प्रिण्टर्स, घी वालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर–302093